ओ३म्

मैं कौन ?
(आत्म दर्शन)
Philosophy of Soul

डा. देवव्रत महाजन

मैं
मेरी अचिन्त्य कथा चिन्तन
की गाँठ में

"मैं हूँ" क्या मेरा ऐसा कहना मेरे अस्तित्व का प्रमाण नहीं ? इस संसार में ऐसा कोई व्यक्ति नहीं जो यह कहे कि मैं नहीं हूँ । फिर मेरे होने में संशय क्यों ? कुछ लोग मेरे अस्तित्व को तो मानते हैं परन्तु समझते हैं कि मैं शरीर के साथ ही नष्ट हो जाता हूँ, पर ऐसा है नहीं । मैं नित्य हूँ, अजर हूँ, अमर हूँ और जन्म मरण के बन्धन में नहीं आता । एक शरीर को छोड़ दूसरा धारण कर लेता हूँ । चोले बदलते रहना मेरा स्वभाव है । शरीरों में रहते उन्हें ज्योतित और गतिमान रखने के कारण ही मुझे 'आत्मा' नाम दिया गया है ।

मैं मानव शरीरों में आता हूँ कुछ पाने के लिये । जाता हूँ कभी कुछ पाकर और कभी कुछ खो कर । कहाँ से आता हूँ, क्यों आता हूँ और कैसे आता हूँ ? कहाँ जाता हूँ, क्या मेरा कोई सहयात्री भी है ? सच मानो जब से सृष्टि बनी तब से ही 'मैं' एक प्रहेलिका बना रहा हूँ ।

उलझिये नहीं आप मेरी इस भूल-भुलैया में और पढ़ डालिए बस एक बार (अथवा अनेक बार) इसे आद्योपान्त । निश्चिय जानिये कि जो भी चित्र हृदय पटल पर उभर कर आयेगा, सत्यं, शिवं, सुन्दरम् ही होगा ।

मूल्य 35.00 रुपये

प्रकाशक :—
प्रबन्धक :—आर्य मॉडल गर्ल्ज हाई स्कूल,
लारेंस रोड, अमृतसर।

पुस्तक मिलने का पता :—

1. एस०सी० 257 शास्त्रीनगर, गाजियाबाद (उ० प्र०) दूरभाष : 48257
2. 45-ए०, लारेंस रोड, अमृतसर (पंजाब) दूरभाष : 222537

समर्पण

डाक्टर

की माँ कहलाने

की बड़ी तमन्ना थी न तेरी

माँ ! पर तू थोड़ी देर रुक भी तो न

पाई, वर्षों की यात्रा तो वर्षों में ही पूरी

होती है न, भुला भी तो नहीं पाया मैं आज तक,

तुम्हारी इस बात को और फिर उऋणी होने से भी

तो डर सा लगता था कि कहीं तुम्हारी मधुर स्मृति

सन्तुष्टि की गन्ध पा कर मेरे हृदय पटल से

खिसक ही न जाये। आज, कितने ही

वर्षों के बाद एक छोटा सा पुष्प

भेंट करने चला आया हूँ ! देखना

कहीं इसे ठुकरा न

देना, माँ !

तुम्हारा ऋणी

तुम्हारा पुत्र

देवव्रत महाजन

प्रस्तावना

'आखिर मेरी प्रेरणा रंग लाई' यह शब्द थे जो अनायास पुस्तक हाथ में लेते, बिना पढ़े ही मेरे मुंह से उछल पड़े। मुझे बहुत बार आदरणीय डा० देवव्रत जी महाजन के धार्मिक प्रवचन सुनने का अवसर मिला और मेरा सदा ही अनुरोध रहता कि डाक्टर जी अपनी इसी शैली में इन विचारों को लेखनी बद्ध कर दीजिये, आध्यात्मिक जगत् आपका आभारी रहेगा। परन्तु डाक्टर जी सदा एक ही उत्तर से टालते रहे कि स्वामी जी इस कार्य के लिए बहुत समय चाहिये जो मैं अपने व्यस्त चल रहे जीवन में कभी निकाल नहीं पाऊंगा।

परन्तु भगवान की लीला बड़ी अद्‌भुत है। डाक्टर जी हृदय रोग से पीड़ित शैया पर पड़े थे और महीनों उन्हें विश्राम करना था। इन्हीं शारीरिक कष्ट के दिनों का सुखद परिणाम था कि इस पुस्तक का प्रारूप तैयार हो गया। हाँ छपने में पुनः कुछ विलम्ब जरूर हो गया। संभवतः इसका कारण भी उन की पहले जैसी व्यस्तता रही हो।

अमर आत्मा की अमर कहानी निःसन्देह अछूती नहीं मेरे लिये परन्तु फिर भी पुस्तक को पढ़कर मन को सन्तोष तो हुआ हीं गद्‌गद् भी हो उठा। इतने गहन और गंभीर विषय को डा० जी ने बड़े अनूठे ढंग से बड़ा सहज और सरल बनाकर उपस्थित किया है। अपनी बात को युक्ति, प्रमाण और उदाहरण से स्पष्ट करना उनके लेखन की विशेषता कही जा सकती है।

आत्मा को अपने विकास के लिये मनुष्य देह धारण करने की अनिवार्यता है इसके बिना कोई दूसरी राह है नहीं। अतः मनुष्य देह को धारण करने से लेकर यानी गर्भ में आने से लेकर देह त्यागने तक उसे कब, कैसे, किसलिये, क्या करना चाहिये इस रहस्य को एक बड़ी सुन्दर शृंखला में बांध दिया है। कहाँ से आया, क्यों आया, कैसे आया और जाना है तो कैसे? क्या साथ लेकर किस मार्ग से? कहां और कितने समय में पुनः लौटना है एक अनूठी दास्तान है इस अमर आत्मा की। मेरा अनुरोध है धर्म प्रेमी बन्धुओं से कि इस मर्म को जानने के लिये इस लघु परन्तु अनूठी पुस्तक का अवश्य अध्ययन कीजिये।

डाक्टर जी को उनके इस सफल प्रयास के लिये धन्यवाद देता हूँ और एक संन्यासी के नाते मेरा भरपूर आर्शीवाद।

निगमानन्द सरस्वती
रोहतक

प्राक्कथन तथा आभार

प्रस्तुत पुस्तिका आपके हाथों में सौंपते मैं यह दावा कदापि नहीं करना चाहूँगा कि मैं इसका रचयिता हूँ। सत्य तो यह है कि आत्मतत्त्व की यह विचारधारा ईश्वरीय है जो वेदवाणी के माध्यम से सृष्टि के आरम्भ में ही प्रादुर्भूत हुई। उपनिषदों के ऋषियों ने घोर तपस्या द्वारा इस विचारधारा का साक्षात्कार किया और जन-जन के कल्याण के लिये अपनी अनुभूतियों को भिन्न-भिन्न शैलियों द्वारा रोचक और सरल बना कर हृदयस्पर्शी बनाया। महर्षि वेद व्यास ने इसे कृष्णार्जुन के माध्यम से गीता के रूप में गाया। आधुनिक मनीषियों ने भी इस पर भरपूर शोध किये। इसे विज्ञान की कसौटी पर भी कसकसा कर सजाया और संवारा। ऐसे गहन और गम्भीर विषय पर मेरे जैसा साधारण व्यक्ति दो शब्द लिख कर ऐसा दावा क्योंकर कर सकता है कि मैं इसका रचयिता हूँ।

मेरा तो प्रयास केवल इतना ही है कि ज्ञान के इस भरेपूरे विशालोद्यान से कुछ भीनी-भीनी मधुर सुगन्धि वाले पुष्पों को बीन कर उन्हें एक मनभावने क्रम से विषय के सूत्र में बांधकर एक मनोहर सुमनगुच्छ के रूप में आप की सेवा में उपस्थित कर सकूँ।

मैं उन सभी आधुनिक विद्वानों का जिन्होंने इस विषय पर गहन चिन्तन और लेखन किया है विशेषतया स्व० प्रो० सत्यव्रत जी वेदालंकार तथा पूज्य स्वा० विद्यानन्द जी सरस्वती का जिनकी रचनाओं का मेरे मन-मस्तिष्क पर गहरा प्रभाव है और जिसे आप इस पुस्तिका में यत्र तत्र स्पष्ट देख पायेंगे, हृदय से अभारी हूँ।

मैं श्री तेजपाल जी सेठी, सचिव, शिशु शिक्षा समिति, प० उ० प्र० का उनके निःस्वार्थ और अथक सहयोग के लिए भी हृदय से आभारी हूँ। उनका सहर्ष सहयोग सदा याद रहेगा।

मैं अपनी पत्नी श्रीमती सावित्री महाजन (सेवा मुक्त प्रिंसिपल, आदर्श कन्या महाविद्यालय, अमृतसर) का भी धन्यवाद अवश्य करना चाहूँगा। पाण्डुलिपि तैयार हो जाने के बाद परिस्थितियाँ इतनी विपरीत हो चुकी थी कि मैं तो इसे छपवाने की सोच भी नहीं सकता था। उन्हीं के सतत् अनुरोध का ही यह परिणाम है कि पुस्तिका छप कर तैयार हो पाई।

—देवव्रत महाजन

दीपावली, सम्वत् 2052
अक्टूबर 24, 1995

एस० सी०-257, शास्त्रीनगर,
गाजियाबाद। (उ० प्र०)

विषय निर्देशिका

—०—

भौतिकवाद की भीड़ में खोया मानव

आज हमारा देश सात पंचवर्षीय योजनाएं पूर्ण करके आठवीं योजना शुरु कर चुका है। पिछली सात योजनाओं में देश ने बाँध बनाये, डैम बनाये, नहरें खोदीं, पुल बनाये, बिजली का उत्पादन बढ़ाया तथा अनेक कारखाने लगाकर देश को कई पहलुओं से आत्मनिर्भर बनाया, इसमें कोई सन्देह नहीं। यह सब योजनाएं क्यों बनाई? इसलिये कि हमारे राष्ट्रनायकों के सामने मानव की सबसे बड़ी समस्या रोटी का प्रश्न है। ऐसी योजनाओं में हजारों और लाखों लोग निर्माण कार्यों में लगकर रोजगार पा सकें और गरीबी की समस्या हल करने में सहायता मिलती रहे। मानव की भूख मिटाने का यह प्रयास निश्चय ही बड़ा प्रशंसनीय है। परन्तु इन सब योजनाओं में हमने मानव को कितना क्षुद्र और तुच्छ मान लिया है यह बात हृदय को मथ डालती है। हम मान बैठे हैं कि मानव की समस्या भूख और प्यास के सिवाय और कुछ नहीं। मानव केवल भूख और प्यास का पुतला मात्र है। मानों मानव केवल शरीर है और शरीर के अतिरिक्त कुछ नहीं है। शारीरिक भूख मिट जाने पर मानव सुख और शान्ति प्राप्त कर लेगा। यह सोच भौतिकवाद की देन है और उसकी सीमा यहाँ तक ही है। परन्तु अध्यात्मवाद की मान्यता इससे भिन्न है। बल्कि यूं कहना चाहिये कि अध्यात्मवाद की यात्रा, जहाँ भौतिकवाद ने यात्रा समाप्त की वहाँ से आगे शुरू होती है। अध्यात्मवाद शरीर को तो सत्य मानता ही है, शरीर की आवश्यकताओं को भी सत्य मानता है। परन्तु यह सब सत्य मानकर यहीं रुक नहीं जाता। शरीर तो आत्मा का साधन मात्र है। साध्य शरीर नहीं, आत्मा है। तब आत्मा की भी कुछ आवश्यकताएँ हैं।

मानव की सबसे बड़ी आवश्यकता है मानवता की, और इसका उदय भौतिकवाद से नहीं अध्यात्मवाद से होता है। आज जिस मानव के लिए यह सम्पूर्ण वैभव और ऐश्वर्य संजोया जा रहा है, कहाँ है वह मानव? कहाँ है वह मानव जिसमें मानवता दिखाई देती हो? वह मानव जो प्रलोभनों के प्रचण्ड बवण्डर को पांव की एक ठोकर से परे फेंक देने

में समर्थ हो? रोटी, कपड़ा और मकान, निःसन्देह एक बहुत बड़ी समस्या है। भूखा मनुष्य क्या-क्या नहीं कर गुजरता। वह चोरी, डाका, बेईमानी तथा नानाविध भ्रष्टाचार कर डालता है। परन्तु इस बात की भी क्या गारंटी है कि भूख प्यास मिट जाने पर अथवा यूं कहें कि भरपूर मिल जाने पर भी मनुष्य की यह समस्या हल हो जायेगी। आज हम देखते हैं कि भ्रष्टाचार के लिये वह लोग जिम्मेदार नहीं जो भूखे और नंगे हैं, बल्कि अधिकतर वह लोग जिम्मेदार हैं जिनके पास खाने को भरपूर, रहने को विशाल भवन और जीवनोपयोगी वस्तुएँ आवश्यकता से कहीं अधिक हैं। मानव की इस भयानक भूख प्यास को भी सीमा में लाना अनिवार्य है।

प्राचीन ऋषियों और मुनियों की खोज मानव के निर्माण की थी। उन्होंने भोग और त्याग का उद्घोष दिया था। संसार में आ ही पड़े हैं तो उसका भोग भी करना है और समय आने पर उसका त्याग भी करना है। ईशोपनिषद् के ऋषि ने कहा था 'तेन त्यक्तेन भुञ्जीथा' यह था वह संदेश जिससे मानव में मानवता जन्म लेती थी, पनपती थी, बढ़ती थी, और धीरे-धीरे उसे चरम लक्ष्य तक पहुँचा देती थी। भूख प्यास के निवारण के साथ-साथ मानवता की रक्षा के लिये शुद्ध और पवित्र संस्कार देने का भी संकल्प लेना होगा। जो संस्कार आज हम बालक को देंगे बड़ा होकर वह वही बनेगा। भौतिकवादी वैज्ञानिक गाय बैल और घोड़ों की नसल सुधारने के तो नित नये परीक्षण कर रहे हैं परन्तु मानव, जिसके लिये यह सब कुछ है उसे सुधारने के लिये किसी का भी इधर ध्यान नहीं है। बेचारा मानव !

केन उपनिषद् के ऋषि ने झकझोर कर यह चेतावनी दी थी कि हे मानव! 'यह मनुष्य शरीर बहुत दुर्लभ है। यदि इसी जन्म में अपने को जान लिया, पहचान लिया और आत्मा को पा लिया तो ठीक, जन्म सार्थक हो गया, और यदि न पाया और अमूल्य समय यूं ही नष्ट कर दिया तो समझो नाश, महानाश हो गया।

इह चेदवेदीदथ सत्यमस्ति, न चेदिहावेदीन्महती विनष्टिः (केन. उप.)

अतः आवश्यकता है इस बात की कि इसी जीवन में ही जीवन के अन्तिम लक्ष्य को पाने के लिये प्रयत्नशील हुआ जाये। मोक्ष को पाना या परमात्मा के परमानन्द की प्राप्ति तभी हो सकती है जब हम पहले आत्मा को जान लें। आत्मा और शरीर एक नहीं है दोनों भिन्न-भिन्न सत्ताएँ हैं। दोनों को जानना आवश्यक है और इससे अधिक आवश्यक है

दोनों की आवश्यकताओं को जानना और उन की पूर्ति के लिये तदानुसार आचरण बनाना।

मैं ?

मैं कौन हूँ? कहाँ से आया हूँ? किस लिये आया हूँ? कब तक यहाँ रहने वाला हूँ ? इसके बाद कहाँ जाऊँगा? और कैसे जाऊँगा इत्यादि अनेक ऐसे प्रश्न हैं जो प्रत्येक मननशील व्यक्ति के लिये जब से सृष्टि का आरम्भ हुआ, तभी से आज तक निरन्तर गम्भीर चिन्तन का विषय बने रहे हैं। हमारे पूर्वज ऋषियों मुनियों ने इन जटिल समस्याओं पर बड़ी गंभीरता से छानबीन की थी और जो निष्कर्ष उन्होंने निकाला था, निश्चय ही वह आज के मानव के लिये भी वैसा ही अटल सत्य है जैसा कि वह उस युग में सत्य था।

ऋषियों ने प्रतिपादित किया कि 'मैं' (आत्मा) एक अनादि, अनन्त ऐसा तत्व है जो एक यथार्थ सत्ता है। हमें अपने वैयक्तिक और सामाजिक जीवन का विकास इसी सत्य को मानकर ही करना है, इसको बिना माने नहीं।

आत्मा शब्द का अर्थ ही यह है कि जिसे अपने आप की प्रतीति हो वह आत्मा है।

आत्मानं जानाति इति आत्मा।

ऋषि याज्ञवल्क्य ने आत्मा के लिये इसी युक्ति का प्रयोग किया है "विज्ञातारं अरे केन विजानीयात्"

अर्थात् जो जान रहा है उसे किसी दूसरे से कैसे जाना जा सकता है। मैं जान रहा हूँ-इतना ही क्या आत्मा के स्वतंत्र अस्तित्व को सिद्ध करने के लिये पर्याप्त नहीं ?

श्री शंकराचार्य का भी कहना है कि वर्तमान को इस समय मैं जानता हूँ। अतीत को मैंने जाना और भविष्य को मैं जान लूंगा-इस अनुभव परम्परा में ज्ञातव्य वस्तु का ही परिवर्तन नजर आता है, परन्तु ज्ञाता का रूप कभी परिवर्तित नहीं होता। क्योंकि वह सदा सर्वदा अपने स्वरूप में विद्यमान है। शंकराचार्य जी ने अन्यत्र भी इसी तत्व का प्रतिपादन करते हुये लिखा है "सब किसी को आत्मा के अस्तित्व में भरपूर विश्वास है। ऐसा कोई व्यक्ति नहीं जो विश्वास करे कि 'मैं नहीं हूँ' यदि आत्मा न होती तो सब किसी को अपने न होने में विश्वास होता।

परन्तु ऐसा तो कभी होता नहीं । अतः आत्मा की स्वतः सिद्धि माननी ही पड़ती है ।

डेकार्ट ने भी एक वाक्य में ही आत्मा के अस्तित्व को स्वीकार किया है । वह कहते हैं 'मैं सोचता हूँ इसलिए मैं हूँ!' याज्ञवल्क्य के विचारों से मिलते-जुलते से शब्द हैं । मुस्लिम, यहूदी और क्रिश्चियन मत के लोग आत्मा के अस्तित्व को तो स्वीकार करते हैं परन्तु अनादि और अनन्त नहीं मानते । उन का कहना है कि आत्मा शरीर के साथ ही उत्पन्न होता है और शरीर की समाप्ति के साथ ही समाप्त हो जाता है यदि वह आत्मा को नाशवान न मानें तो पुनर्जन्म जिसे वह नहीं मानते स्वतः सिद्ध हो जाता है । शायद आत्मा को नाशवान मानने में उनकी यही मजबूरी रही हो ।

बौद्धमत तथा ह्यूम और लाक जैसे भौतिकवादियों का यह कहना है कि आत्मा की स्वतंत्र सत्ता नहीं है चेतना का प्रवाह हो रहा है, इसके अतिरिक्त कुछ नहीं है-सर्वथा भ्रान्तिपूर्ण विचार है। 'मैं' का सूत्र चेतना के सब अनुभवों में विद्यमान रहता है। बचपन में जो मैं था, युवावस्था में जो मैं था वृद्धावस्था में भी मैं जो हूँ या रहूँगा-यह सब 'मैं' अगर, प्रत्यय मात्र है, अगर नदी के जल की तरह प्रवाह मात्र है, अगर दीप शिखा की क्षण-क्षण बदल रही ज्वाला मात्र है तो बाल्यावस्था, युवावस्था तथा वृद्धावस्था एक ही व्यक्ति की कैसे हो सकती है । इन सब में 'मैं' पन कैसे को सकता है? नदी के प्रवाह को एक बनाने वाला उसका धरातल है । दीप शिखा को एक बनाने वाला दीया, तेल और बत्ती हैं। हमारे भिन्न-भिन्न प्रत्ययों को एक कौन बना देता है? सात वर्ष में शरीर के सब अणु बदल जाते हैं। फिर इस शरीर में एकता की अनुभूति कैसे बनी रहती है? नदी तथा दीप शिखा में हमें एकता का जो अनुभव होता है वह मिथ्या हो सकता है, परन्तु हमें तो अपने भीतर ही शरीर के अणु-अणु के बदल जाने पर भी 'मैं' वही हूं का पूरा-पूरा ज्ञान रहता है । यह ज्ञान बिना आत्मा की स्वतंत्र सत्ता को माने नहीं बन सकता। शंकराचार्य तथा डेकार्ट की आत्म सिद्धि विषयक इस युक्ति का आज तक भौतिकवादियों ने कोई संतोषजनक उत्तर नहीं दिया ।

आत्मा नित्य है और शरीर अनित्य

वैदिक संस्कृति की आध्यात्मिक खोज पूर्णतया सत्य पर आधारित है । छान्दोग्य तथा माण्डूक्य उपनिषदों ने इसका वर्णन बड़े सुन्दर ढंग से

किया है। उनका कहना है कि मानव में दो सत्ताएं हैं एक है उसका 'शरीर' और दूसरी है उसकी 'आत्मा'। शरीर और आत्मा दोनों भिन्न-भिन्न हैं। शरीर के नष्ट हो जाने पर सब नष्ट नहीं हो जाता, आत्मा बची रहती है। आत्मा नित्य है और शरीर नाशवान है, अनित्य है। अनित्य का अर्थ यह नहीं कि शरीर है ही नहीं। जो वस्तु दीखती है उससे इंकार कैसे किया जा सकता है। अनित्य का अर्थ है सदा बना रहने वाला नहीं, टिकाऊ नहीं है। हमारा यह शरीर और सृष्टि में यह जगत् दोनों हर समय, क्षण-क्षण बदल रहे हैं। इस क्षण जो है दूसरे क्षण वह नहीं रहता। इसीलिये संस्कृत में हमारे पांच भौतिक देह के लिये शरीर और पांच भौतिक विश्व के लिए जगत् या संसार इन शब्दों का प्रयोग किया जाता है। शरीर का अर्थ है-क्षरण होने वाला, जो पल-पल खुरता जा रहा है। जगत् का अर्थ है जो गति कर रहा है, पल-पल जिसके अणु परमाणु बदल रहे हैं। संसार शब्द का भी यही अर्थ है जो सरण कर रहा है, चलायमान है जो टिक नहीं रहा है। शरीर तथा संसार को अनित्य कहने का यही अर्थ है कि न शरीर टिकने वाला है और न ही यह संसार। शरीर की कोशिकायें (CELLS) इस तेजी से बदल रही हैं कि सब पुरानी कोशिकाएं सात वर्ष में बदल कर नई हो जाती है। इस दृष्टि से सत्तर वर्ष का हमारे जैसा व्यक्ति जीते जी दस बार नया शरीर धारण कर चुका है। इसी बदलाव के कारण हमारे शास्त्रों ने इसे अनित्य कहा है।

एक बात और जो ध्यान देने योग्य है कि जो भी अनित्य वस्तु है वह किसी नित्य के सहारे टिकी होती है। हम माला के मनके फटाफट गिनते जा रहे हैं परंतु उन्हें न गिने जाने वाले सूत्र ने संभाल रखा है। चक्की का पाट घूम रहा है एक स्थिर कीली के सहारे। अनित्य अस्थिर, नाशवान इस शरीर के पीछे नित्य, स्थिर तथा अविनाशी जो तत्व है-वही शरीर में आत्मा है। तो 'मैं' क्या हूँ? 'मैं' आत्मा हूं जो इस नाशवान शरीर में इसलिए हूं कि यही एक मात्र ऐसा साधन है जिसके द्वारा मैं अपने वैयक्तिक जीवन का और सामाजिक जीवन का भी विकास कर सकता हूं और अपने चरम लक्ष्य अमृत की ओर अथवा मोक्ष की ओर आगे ही आगे बढ़ता हुआ जा सकता हूं।

यह जान लेने के पश्चात् भी कि शरीर और आत्मा दो भिन्न-भिन्न तत्व है, व्यवहार में हम उखड़े से दीखते हैं। कारण बड़ा स्पष्ट है। हम अस्थिर को स्थिर बनाकर रखना चाहते हैं। नाशवान को अविनाशी

देखना चाहते हैं और अनित्य को नित्य बनाये रखने की चाहत लिये रहते है। यदि हम हृदय से इस बात को स्वीकार कर लें कि यह दोनों तत्व आत्मा और शरीर भिन्न-भिन्न हैं तो हमारे जीवन का दृष्टिकोण ही बदल जाएगा शरीर स्वयं में कुछ नहीं यह एक प्रकार कासाधन है-आत्मा का। आत्मा शरीर का मालिक है। इसके द्वारा वह शरीर के विषयों का भोग करता है। इसे साधन मानकर, साधन के प्रति जो दृष्टि होनी चाहिये वही अपनाना यथार्थ दृष्टि है।

कठोपनिषद् में कहा है :-

आत्मानं रथिनं विद्धि शरीरं रथमेवतु,

बुद्धिं तु सारथिं विद्धि मनः प्रग्रहमेवच।

इन्द्रियाणि हयानाहुः विषयां स्तेषु गोचरान्

आत्मेन्द्रिय मनोर्युक्तं भोक्तेत्याहुर्मनीषिणः ॥

शरीर एक रथ है। इस पर उसका मालिक आत्मा बैठा हुआ है। बुद्धि साईस के रूप में लगाम हाथ में थामें इसे चला रही है। लगाम इन्द्रिय रूपी गोड़ों के मुख में बन्धी है। यह घोड़े विषय रूपी मार्ग पर दौड़े जा रहे हैं।

यह दृष्टिकोण कब बनता है? जब हम शरीर और आत्मा को अलग-अलग मानकर शरीर के मालिक बनकर उसे जिधर चलाना चाहें उधर चलाएं। वैदिक ऋषियों की खोज यह थी कि शरीर आत्मा के नौकर के समान है और आत्मा को उससे इच्छित काम लेना चाहिये। आत्मा को उसके अधीन रहकर नहीं चलना है।

हमारी समस्या यह है कि हम धन इकठ्ठा करते हैं। धन अनित्य है, टिकने वाला नहीं। हम चाहते हैं कि वह नित्य बनकर टिका रहे। हम मकान बनाते हैं। मकान अनित्य है। परन्तु हम चाहते हैं कि वह नित्य बन जाये। हमारे सभी सम्बन्ध अनित्य हैं। पिता के लिये पुत्र, पुत्र के लिए पिता पति के लिए पत्नी, पत्नी के लिए इन सब सम्बन्धों से इंकार तो नहीं किया जा सकता परन्तु हैं यह सब अनित्य। इन्हें अनित्य मानकर चलने से टूट जाने पर दुःख नहीं होता। परन्तु यदि इन्हें नित्य मान लें तो टूट जानेपर, जो एक न एक दिन टूटने अवश्य हैं, हम दुःख के सागर में डूब जाते हैं। इसलिये व्यावहारिक दृष्टिकोण यही है कि आत्मा को नित्य और शरीर को अनित्य जानें।

यही तो याज्ञवल्क्य पूछते हैं। 'इसमें सन्देह नहीं कि सब कुछ 'स्व' के लिये है। मुझे अपने लिये ही सब कुछ प्यारा होता है। फिर भी 'मैं', मेरा आपा 'स्व' जिसके लिए सब कुछ है, वह है कौन ? क्या यह प्रकृति है या पुरुष है ? अहंकार (प्रकृतितत्व) है या आत्मतत्व है ? महर्षि का कहना है कि मेरा 'मैंपन' (INESS) यह 'स्व' प्रकृति नहीं, पुरुष है। याने आत्म-तत्व है। इस आत्मतत्व के विकास के लिये ही सब कुछ है। पुत्र-पौत्र, पति-पत्नी, बन्धु-बान्धव, जाति, समाज तथा देश सब कुछ आत्मा के विकास के लिये ही है। यहां तक कि यह प्रकृति, यह सम्पूर्ण ब्रह्माण्ड भी आत्मा के विकास के लिए ही है। यह सब आत्मा के साधन मात्र हैं साध्य तो आत्मतत्व ही है, वही 'स्व' है। अपना 'मैंपन' है। यह सब उसी के लिये है। उसी को पहचानो। आत्मा वा अरे द्रष्टव्यः श्रोतव्यो मन्तव्यः निदिध्यासितव्यः।

ऋषि याज्ञवल्क्य को जिस आत्मा के बारे कहा कि वह द्रष्टव्य है। तो वह कैसा है। आइये इस पर विचार करें।

आत्मा का स्वरूप क्या है ?

आत्मा का मुख्य रूप है—चेतना। यह चेतना प्रकृति में नहीं है। प्रकृति आत्मा का साधन है। वह अपने २४ उपकरणों के (औजारों के) साथ आत्मा की सेवा में, हाथ जोड़े आज्ञा का पालन करने के लिये सदा उपस्थित रहती है। प्रकृति के इन २४ उपकरणों में मन, बुद्धि, चित्त और अहंकार जिन्हें हम अन्तःकरण चतुष्टय भी कहते हैं-मुख्य हैं। मुख्य इसलिये क्योंकि भौतिक होते हुये भी अभौतिक आत्मा के अत्यन्त समीप हैं। आत्मा के सानिध्य से ही इनमें चेतना की झलक आ जाती है। कई विचारक तो अन्तःकरण चतुष्टय को भौतिक होते हुये भी चेतन कहने लगते हैं परन्तु वास्तविकता यह नहीं है। केवल आत्मा के सानिध्य के कारण उसमें चेतना की झलक दीखती है। स्वतः इसका निर्माण प्रकृति से होने के कारण यह भौतिक है और जड़ है। देखने में शरीर भी चेतन दीखता है परन्तु क्या शरीर चेतन है ? नहीं, कदापि नहीं। यह आत्मा की विद्यमानता के कारण ही चेतन लगता है।

२४ उपकरण इस प्रकार हैं :-

मन्, बुद्धि, चित्त और अहंकार चार, पांच ज्ञानेन्द्रियाँ, पांच कर्मेन्द्रियाँ,पांच महाभूत और पांच तन्मात्राएँ। इस प्रकार कुल हुये २४

पांच ज्ञानेन्द्रियां हैं आंख, कान, नाक, रसना और त्वचा। कर्मेन्द्रियां हैं हाथ, पांव, जिह्वा और मलमूत्र की इन्द्रियां, पांच महाभूत हैं पृथ्वी, जल, तेज, वायु और आकाश और पांच तन्मात्राएं हैं गन्ध, रस, रूप, स्पर्श और शब्द।

आत्मा चेतन तो है परन्तु बिना उपकरण के वह अपनी चेतना को काम में नहीं ला सकता। प्रकृति आत्मा के पुरुषार्थ साधन के लिये उसका उपकरण है। आत्मा चेतन है, प्रकृति जड़ है। आत्मा क्रियाशील है, प्रकृति में अपने आप कोई क्रिया नहीं होती। कोई दूसरा उसमें क्रिया उपलब्ध कराता है। फिर इन दोनों का आपस में गठबंधन हो जाता है। लंगड़े और अंधे के गठबंधन की तरह। कल्पना कीजिये कि मकान में आग लगी है। इसके एक कमरे में एक अंधा बैठा है और दूसरे कमरे में लंगड़ा। दोनों बच निकलना चाहते हैं। अंधे को बाहर निकलने की राह का पता नहीं और लंगड़ा राह तो देख रहा है परन्तु चल नहीं सकता। आखिर गठबंधन काम आता है। अंधे की पीठ पर लंगड़ा चढ़ जाता है और उसे मार्ग दिखाकर दोनों बचने में सफल हो जाते हैं।

ठीक ऐसे ही आत्मा को भवसागर से पार उतरने के लिये शरीर की आवश्यकता है। बिना शरीर के, बिना साधन के वह कुछ भी करने में असमर्थ है।

यमाचार्य का नचिकेता को आत्मस्वरूप बारे उपदेश

यमाचार्य नचिकेता को आत्मा के स्वरूप का वर्णन करते हुए कहते हैं :

न जायते म्रियते वा विपश्चित्
नायं कुतश्चित् न बभूव कश्चित्
अजो नित्यः शाश्वतोऽयं पुराणा
न हन्यते हन्यमाने शरीरे (कठ उप)

न यह आत्मा उत्पन्न होता है और न मरता हीं है। वह किसी का उपादन कारण भी नहीं और न ही कोई दूसरा इसका उपादान कारण है। उपादान कारण का अर्थ है, जिससे कोई वस्तु बनती है। जैसे सूत कपड़े का उपादान कारण है। मिट्टी घड़े की उपादान कारण है। इसलिये न तो इससे कोई वस्तु बनती है और न ही कोई इसे बनाने वाली है। यह अजन्मा है, नित्य याने सदा रहने वाला है। सदा से चला आ रहा है और शरीर के नष्ट हो जाने पर भी यह नष्ट नहीं होता।

थोड़े से शब्दों के भेद से बिल्कुल ऐसा ही श्लोक गीता में भी कहा गया है। गीता में आत्मा के सम्बन्ध में और भी बहुत कुछ कहा है। परन्तु एक श्लोक जो बहुत प्रसिद्ध है उसे उद्धृत करना आवश्यक समझता हूं। जो इस प्रकार है.

नैनं छिन्दन्ति शस्त्राणि, नैनं दहति पावकः।
न चैनं क्लेदयन्त्यापो न शोषयति मारुतः॥

न तो इसको शस्त्र काट सकते हैं, न इसे अग्नि जला सकती है न ही इसे जल गला सकता है और न ही वायु सुखा सकती है।

महर्षि गौतम द्वारा आत्मा के स्वरूप का वर्णन

न्याय दर्शन में आत्मा के लक्षण बताते हुये महर्षि कहते हैं।

इच्छा-द्वेष-प्रयत्न सुख-दुःख ज्ञानानि आत्मनो लिङ्गम्।

इच्छा-द्वेष,'सुख, दुःख और ज्ञान यह आत्मा के छः लिंग (चिह्न) हैं।

कौन आत्मवान है और कौन अनात्मवान ? क्या सजीव है और क्या निर्जीव ? इसका निर्णय ऊपर कहे लक्षणों को सामने रखकर करना चाहिये। दूसरे शब्दों में यह भी कहा जा सकता है कि जहाँ यह चिह्न पाये जायें, समझ लो वहां आत्मा विद्यमान है। इच्छा का अर्थ है जिस प्रकार की वस्तु से पहले कभी सुख का अनुभव किया था उसे पुनः देखकर प्राप्त करने के विचार को इच्छा कहते हैं। दूसरे 'द्वेष' जिस वस्तु से पहले कष्ट पाया हो उसे देखकर दूर से ही अपनयन का विचार द्वेष कहलाता है। आगे कहा 'प्रयत्न' दुःख के कारणों को दूर करना और सुख के कारणों को प्राप्त करने की क्रिया को 'प्रयत्न' कहते हैं। इसके बाद कहा 'ज्ञान' आत्मा के अनुकूल पदार्थों को पृथक-पृथक जानना 'ज्ञान' कहलाता है।

इन गुणों को द्वंद्वों में विभक्त करके आत्मा के तीन मुख्य गुण भी कहे जाते हैं। पहला सुख दुख का द्वन्द्व दूसरा इच्छा द्वेष का द्वन्द्व और तीसरा है प्रयत्न और ज्ञान का द्वन्द्व। इस प्रकार जीव ज्ञाता भी है, कर्त्ता भी है और भोक्ता भी है। ज्ञान का सूचक होने से ज्ञातृत्व, कर्म अथवा प्रयत्न का सूचक होने से कर्तृत्व और सुख दुःख का सूचक होने से से भोक्तृत्व इच्छा और द्वेष दोनों से जुड़े रहते हैं। अर्थात् सुख भोगने का ज्ञान और प्रयत्न तथा दुःख से बचने के लिये ज्ञान और प्रयत्न।

आत्मा कर्त्ता, भोक्ता और ज्ञाता है-यह कैसे ?

मानव शरीर में पांच ज्ञानेन्द्रियां हैं दो आंखें, दो कान, दो नासिकाएं रसना (जिह्वा) और त्वचा। इन पांचों द्वारा ज्ञान की प्राप्ति होती है। पांच ही कर्मेन्द्रिया हैं :-दो हाथ, दो पांव, वाणी और मल तथा मूत्र त्यागने की इन्द्रियां। इन पांचों के द्वारा कर्म किया जाता है। मन उभयेन्द्रिय है याने दोनों काम करता है, अतः उसे ग्यारहवीं इन्द्रिय भी कहा जाता है। मन इन्द्रियों और आत्मा के मध्य सम्पर्क का काम करता है। जब तक मन और इन्द्रियों का संयोग न हो काम नहीं हो सकता। आत्मा जो कि अणु और सूक्ष्म है तथा हृदय स्थानी है यदि वह हाथ से काम लेना चाहे तो उसे मन के द्वारा हाथ से सम्पर्क स्थापित करना पड़ता है। चूंकि यह क्रिया बहुत शीघ्रता से होती है पलक झपकने का समय भी नहीं लगता अतः जान नहीं पाते कि क्रिया कैसे हो गई। हम सड़क पर चले जा रहे हैं। आँखें मार्ग दिखा रही हैं। अनायास हमारे पीछे कार आ गई, कानों ने हार्न की आवाज सुनी और आत्मा को सतर्क किया। आत्मा ने पांव को आदेश दिया और हम झट से एक ओर हट गये। यह सब क्रिया कब और कैसे हो गई शायद हमने कभी विश्लेषण ही न किया हो। वास्तव में यह कानों द्वारा ज्ञान प्राप्त करना, बुद्धि द्वारा एक ओर हटने का निर्णय देना और आत्मा का पांव को आदेश देना इतने कामों का परिणाम था कि हम बिना चोट खाने से बच गये।

तो क्या देखती आँख है या सुनते कान हैं ?

इसका वर्णन केन उपनिषद के ऋषि ने बड़े सुन्दर ढंग से यूं किया है। आत्मा के स्वरूप का बर्णन ऋषि अपने ढंग से करते हैं :-

जिसके बिना आँख देख नहीं सकती, आंख जिसकी साधन है, जो आंखों के द्वारा देखता है वही आत्मा है। जिसके बिना कान सुन नहीं सकते, कान जिसके साधन हैं, जो कानों के द्वारा सुनना है वह आत्मा है। जिसके बिना नासिका सूंघ नहीं सकती, नासिक साधन है जो नासिका द्वारा सूंघता है वह आत्मा है। जिह्वा जिसके बिना स्वाद नहीं ले सकती जिह्वा जिसकी साधन है, जिह्वा द्वारा जो रस लेता है वह आत्मा

है। मन जिसके बिना मनन नहीं कर सकता, मन जिसका साधन है, जो मन द्वारा मनन करता है वह आत्मा है। इस प्रकार आत्मा द्रष्टा है श्रोता है, रसयिता है स्पर्ष्टा है और मन्ता है। समस्त ज्ञानेन्द्रियों के पीछे बैठा वही ज्ञाता है। इन्द्रियां तो उसकी ज्ञान प्राप्त करने की साधन मात्र हैं।

महर्षि ने बड़े स्पष्ट शब्दों में दर्शाने का सफल प्रयास किया कि गोलकों में जागृति दिखाई देती है। वह इन्द्रिय-गोलकों की अपनी नहीं है वह गोलकों से भिन्न चैतन्य स्वरूप आत्मा है। वह आत्मा सदा ज्ञान सम्पन्न रहता है। एक क्षण भी ऐसा नहीं होता जब आत्मा ज्ञान शून्य हो। ज्ञान और आत्मा का समवाय सम्बन्ध है। समवाय सम्बन्ध का अर्थ है–सदा साथ रहना जैसे अग्नि के बिना गर्मी या गर्मी के बिना अग्नि कभी देखी नहीं गई। आत्मा चाहे किसी भी अवस्था में हो, किसी भी शरीर में हो और चाहे किसी भी देश में क्यों न हो– वह सदा विज्ञानात्मा में परिवर्तित हो सकता है। शरीर में परिवर्तव हो सकता है, काल में परिवर्तन हो सकता है और दशा में भी परिवर्तन हो सकता है परन्तु आत्मा के 'स्वरूप' में परिवर्तन कदापि नहीं हो सकता। आत्मा तो हो परन्तु वह ज्ञान से शून्य हो–यह सर्वथा असम्भव है। और इसी तरह ज्ञान हो और वह आत्मा से शून्य हो-यह भी सर्वथा असम्भव है।

तो विज्ञानात्मा क्या है ? जिसके आश्रय से दसों इन्द्रियां, दसों प्राण मन, बुद्धि चित और अहंकार (अन्तःकरण-चतुष्टय) अपना-अपना कार्य करते शरीर की प्रतिष्ठा स्थापित रखते हैं-वह विज्ञानात्मा है। न केवल यही बल्कि जिसका आश्रय पाकर भोग्य भौतिक तत्व भी शरीर में पहुंच कर क्रमशः रस, रक्त मांस, मेदा, अस्थि, मज्जा, वीर्य और ओज बनते हैं और शरीर का पोषण करते हैं-वह चैतन्य स्वरूप आत्मा है।

ऋषि का कहना है कि शरीर में जो प्राण, अपान उदान, समान और व्यान (पांच प्राण) अपने सहधर्मी पांच उपप्राणों के साथ रक्त शोधन, अन्न पाचन, समान वितरण आदि शरीर को चुस्त-दुरूस्त रखने के कार्य करते हैं वह सब कार्य तभी होते हैं जब तक आत्मा का शरीर में निवास होता है। आत्मा के शरीर छोड़ जाने के पश्चात् रक्त संशोधन आदि क्रियाओं का होना तो दूर रहा प्राण आदि का अस्तित्व भी समाप्त हो जाता है।

जाग्रत-स्वप्न और सुषुप्ति अवस्थाओं द्वारा आत्मज्ञान (इन्द्र और विरोचन का प्रजापति से आत्मज्ञान प्राप्त करने जाना)

कहते हैं एक बार प्रजापति ने घोषणा की कि मुझे एक ऐसी सत्ता का ज्ञान है जो जरा मृत्यु और भूख प्यास से परे है। जो कोई भी इस रहस्य को जानना चाहे मेरे पास आकर जान सकता है।

प्रजापति की यह घोषणा देवों ने भी सुनी और असुरों ने भी। देव और असुर कोई जाति विशेष नहीं बल्कि मनुष्यों में ही कुछ देव होते हैं और कुछ असुर याने राक्षस होते हैं, अच्छी और बुरी वृत्तियों के कारण। दोनों के हृदय में उत्सुकता हुई कि जानें वह कौन सी सत्ता है। जिस पर मृत्यु, बुढ़ापा और भूख-प्यास का कोई प्रभाव नहीं। दोनों ने ही निर्णय किया कि प्रजापति के पास जाकर इसका ज्ञान प्राप्त करना चाहिये। इस कार्य के हेतु देवों ने 'इन्द्र' को अपना प्रतिनिधि चुना और प्रजापति के पास जाकर ज्ञान प्राप्त करने का आदेश दिया और असुरों ने विरोचन को अपना प्रतिनिधि चुना और प्रजापति के पास जाने को कहा।

दोनों प्रजापति के पास पहुंचे और इस नई खोज के बारे में जानने की इच्छा प्रकट की। प्रजापति ने कहा कि ३२ वर्ष ब्रह्मचर्य पूर्वक मेरे आश्रम में रहो। ३२ वर्ष बीत जाने के पश्चात् प्रजापति ने दोनों को बुलाकर कहा कि तुम एक दूसरे की आँखों में देखो। आंखों में जो पुरुष दिखाई देता है वही अजर-अमर तथा शोकरहित है उसका नाम आत्मा है, यही मेरी खोज है। प्रजापति ने पुनः कहा कि सुन्दर वस्त्र और अलंकार पहनकर आओ। वह दोनों ऐसा ही करके आये और बोले आज्ञा भगवन्! जल में देखो फिर दर्पण में देखने को कहा। दोनों ने पूछा भगवन्! जल में और दर्पण में जो प्रतिबिम्ब के रूप में सुन्दर सजा दीखता है वह क्या है? प्रजापति ने उत्तर दिया जो आँख में दीखता है, जो जल में दीखता है, और जो दर्पण में दीखता है वह वही आत्मा है। जब शरीर जाग्रत अवस्था में होता है तब यह आत्मा का जाग्रत स्थान कहलाता है।

प्रजापति ने अपनी बात पहेली के रूप में कही। यह नहीं कहा कि यह शरीर ही आत्मा है। बल्कि यह कहा कि जब शरीर जाग रहा होता है, जाग्रत अवस्था में होता है तब आत्मा का स्थान शरीर की जाग्रत अव-

स्था में होता है। शरीर जाग गया तो मानो आत्मा जागते हुये शरीर को आसन बनाकर हमारे सामने आ बैठता है।

प्रजापति की पहेली का अर्थ इन्द्र तथा विरोचन ने यही समझा कि यह शरीर ही आत्मा है यही अजर है, अमर है, दुःख रहित है। दोनों बड़े प्रसन्न हुये और खुशी-खुशी घर को चल दिये। उन दोनों को लौटते देख प्रजापति सोचने लगे कि दोनों आत्मा को उपलब्ध किये बिना जा रहे हैं। इन दोनों में से जो शरीर को ही आत्मा समझ कर उसकी सेवा में लग जायेगा, वह धोखा खायेगा। इनमें कौन मेरी पहेली के गूढ़ रहस्य को समझता है। जो समझेगा वह लौटकर अवश्य आयेगा। विरोचन तो विरोचन ही था उसने अपने असुरों को जाकर बताया कि प्रजापति भी हमारी तरह ही शरीर को ही सब कुछ मानते हैं उनका कहना है कि शरीर ही आत्मा है। इसी की सेवा करो, खाओ, पीओ और मौज करो।

इन्द्र घर को लौट तो पड़ा परन्तु मार्ग में ही संकल्प-विकल्पों में उलझ गया। उसे लगा कि मैं प्रजापति की पहेली को ठीक से समझा नहीं। जल में अथवा दर्पण में दीखने वाली छाया शरीर के अलंकृत होने पर अलंकृत हो जाती है और शरीर के विकृत होने पर विकृत दिखाई देती है। ऐसी अवस्था में इन दीखने वाली छायाओं को अजर-अमर और दुःख रहित कैसे माना जा सकता जा है। इन्द्र प्रजापति के पास लौट आया। प्रजापति ने लौटने का कारण पूछा। इन्द्र ने कहा भगवन् आंख, जल अथवा दर्पण में दीखने वाली छाया जैसे शरीर के अलंकृत होने पर अलंकृत और विकृत होने पर विकृत तथा शरीर के नष्ट होने पर नष्ट हो जाती है तो यह अजर-अमर और भूख प्यास से रहित कैसे हुई ?

प्रजापति ने कहा इन्द्र, तुम ठीक समझे। अभी ३२ वर्ष और मेरे आश्रम में रहकर तपस्या करो। इन्द्र फिर प्रजापति के आश्रम में रहकर तपस्या करने लगा। ३२ वर्ष बीत जाने पर प्रजापति ने इन्द्र को उपदेश दिया कि स्वप्नावस्था में जो महिमाशाली होकर विचरता है, दूर-दूर की दौड़ लगाता है, भिन्न-भिन्न रूपों को धारण करता है बैठे बिठाये कभी राजा कभी सेठ साहूकार हो जाता है-वही आत्मा है। इन्द्र को यह बात कुछ जची क्योंकि शरीर के लंगड़ा होने पर भी स्वप्नावस्था में वह दोनों पैरों से दौड़ लगाता है, पंख न होने पर भी आकाश में उड़ता है अंधा होने पर भी देखता है। अवश्य यही सत्ता जो स्वप्नावस्था में प्रगट होती है, जरा मरण, भूख-प्यास से मुक्त प्रतीत होती है।

इन्द्र लौट आया परन्तु कुछ दूर जाकर उसे फिर शंकाओं ने घेर लिया। वह सोचने लगा कि यह ठीक है कि शरीर के वध से उसका वध नहीं होता। शरीर के अन्धा और लंगड़ा होने पर वह अन्धा और लंगड़ा नहीं होता परन्तु स्वप्न में ऐसा तो प्रतीत होता है कि कोई उसे मारने को आ रहा है। फिर वह डरता भी है। दु:खी भी होता है और रोने भी लग जाता है। प्रजापति का तो कहना है कि आत्मा को कोई दु:ख नहीं होता। वह भयभीत नहीं होता परन्तु स्वप्नावस्था में जो सत्ता हमारे सामने प्रगट होती है वह कष्ट सामने देखकर रोती चिल्लाती भी है। भयानक दृश्य देखकर भयभीत भी होती है। यह सब सोचकर इन्द्र पुन: लौट आया।

प्रजापति ने उसे लौटा देख कर पुन: पूछा कि अब क्यों लौट आये? इन्द्र ने कहा भगवन्, यह ठीक है कि शरीर अन्धा हो जाये तो स्वप्न देखने वाला अन्धा नहीं होता। न शरीर के वध से वह मरता है परन्तु स्वप्न में तो उसे अनुभव होता है कि जैसे उसे कोई मार रहा है। कभी-कभी वह रोने भी लग जाता है। ऐसी हालत में उस स्वप्नद्रष्टा को मैं आत्मा कैसे मान लूं? प्रजापति ने कहा इन्द्र, तुम्हारी शंका ठीक है। ३२ वर्ष मेरे आश्रम में और रहकर तपस्या करो।

इन्द्र ६४ वर्ष तपस्या कर चुका था ३२ वर्ष और तपस्या करने लगा। ९६ वर्ष पूरे होने पर प्रजापति ने उसे बताया कि जाग्रतावस्था स्वप्नावस्था और सुषुप्ति अवस्था में मनुष्य इन अवस्थाओं में से गुज-रता रहता है। जाग्रतावस्था वह है जिसमें मनुष्य शरीर में निवास करता दीखता है। जिसे विरोचन ने पहेली को न समझकर आत्मा मान लिया और असुरों में घोषणा कर दी कि शरीर ही आत्मा है। स्वप्नावस्था वह है जिसमें मनुष्य स्वप्न में निवास करता है। जिसे पहेली को रहस्य-मय बनाये रखने के लिये प्रजापति ने आत्मा कह दिया। परन्तु जिसे इन्द्र ने आत्मा मानने से इन्कार कर दिया। शरीर की इन दोनों अवस्थाओं के अतिरिक्त एक तीसरी अवस्था है, जिसे सुषुप्ति अवस्था कहते हैं। सोने के बाद जहाँ पहुँचकर यह सत्ता बिखरी नहीं रहती सिमट जाती है। न जागने की हालत की तरह देखती, सुनती चलती फिरती है और न सोने की हालत की तरह बिना आँखों को खोले देखती, बिना कानों के सुनती, बिना टाँगों के चलती, बिना वाणी के बोलती, बिना किसी साधन के सब काम करती है। जहाँ पहुँचकर इसमें कोई क्रिया नहीं होती। जहाँ से लौट आने पर प्रात:काल मनुष्य कहता है— बड़ा आनन्द आया। उस में न जरा है न मृत्यु है और न ही भूख प्यास है।

इन्द्र को यह बात बहुत रूचिकर लगी और जंची भी। उसको समझ आने लगी कि शरीर आत्मा नहीं है। स्वप्न में जो शक्ति काम करती है वह भी आत्मा नहीं है। सुषुप्ति में किसी ऐसी शक्ति की जरा सी झलक आ जाती है जो सोकर उठने पर अनुभव करती है कि बड़े आनन्द से सोया वह किस आनन्द को स्मरण कर रहा है? यह सब कुछ इन्द्र को समझ आने लगा। परन्तु उसे संदेहों ने फिर आ घेरा। वह सोचने लगा कि सुषुप्तावस्था में तो उसे यह भी ज्ञान नहीं रहता कि 'मैं कौन हूँ" उस समय तो वह अपने को भी नहीं जानता। जब उसे अपना ज्ञान भी नहीं रहता तब तो वह शून्य हो जाना चाहिये। जिसका अस्तित्व ही नहीं रहता उसे आत्मा कैसे कहा जा सकता है? इन संकल्प विकल्पों से घिरा इन्द्र फिर प्रजापति के पास लौट आया। प्रजापति ने कहा अब क्यों लौटे? तो इन्द्र ने अपना सन्देह सामने रखा दिया। प्रजापति ने कहा इन्द्र! तुम सत्य के बहुत निकट पहुँच चुके हो। अभी ५ वर्ष और तपस्या करो।

इन्द्र ने ५ बर्ष और तपस्या की और प्रजापति की असाधारण खोज का रहस्य जानने के लिये पूरे १०१ वर्ष इस ज्ञान को प्राप्त करने के लिये अर्पण कर दिये। तब प्रजापति ने कहा-इन्द्र! तुम सुपुप्ति में से जब जाग्रतावस्था में आये तो तुम्हें स्मरण रहा कि इस बीच बड़े आनन्द में रहे। यदि उस सुषुप्ति की अवस्था में तुम जड़ हो गये होते, तुम्हारा अस्तित्व ही न रहता, 'तब बड़े आनन्द में रहा' यह प्रतीति कैसे होती? इन्द्र तुम्हारा यह अनुभव करना कि सुषुप्ति के ५-६ घंटे तुमने आनन्द से बिताये, ऐसे आनन्द से कि जिस की याद अब तक बनी हुई है, इसलिये होती है क्योंकि अब तुम अपने 'आत्मरुप' में 'स्व-रुप' में पहुँच गये थे। सुषुप्ति के आनन्द का अनुभव आत्मा की एक झलक है। जिसकी यह झलक है वही आत्मा है। वही अजर है, अमर है, उसकी झलक हर किसी को होती है। उसकी आनन्दमय झलक का होना ही सिद्ध करता है कि वह है। केवल है ही नहीं, आनन्द उसका स्वभाव है।

उपनिषद् की इस कथानक को पढ़ने के पश्चात् कई पाठक यह भी कह सकते हैं कि इतनी छोटी सी बात बताने के लिये प्रजापति ने इन्द्र से १०१ वर्ष की तपस्या व्यर्थ में करवाई। क्या यही बात उसे ज्ञान का अधिकारी जान और मान लेने के पश्चात् पहले नहीं बताई जा सकती थी? परन्तु प्राचीन ऋषियों का अध्यापन का ढंग कोरी जानकारी मात्र करा देने तक सीमित नहीं रहता था। वे शिक्षा को आत्मसात होने,

जीवन में ढलने की स्थिति को ही ज्ञान मानते थे। यही उनकी शिक्षा का तात्पर्य होता था।

इन्द्र के १०१ वर्ष तप करने के पश्चात् यदि किसी ने इन्द्र से पूछा होता कि क्यों जी, कैसी रही जीवन भर की आपकी तपस्या ? तो हमारा विश्वास है कि उन्होंने अत्यन्त विश्वास और सन्तुष्टि के साथ बड़े गौरव के साथ कहा होता कि मैं बहुत भाग्यशाली हूँ जो एक ही तुच्छ से जीवन में इतना महान साक्षात्कार (आत्मदर्शन) पा गया। मैं प्रजापति का आभार मानता हूँ।

आत्मा का व्यावहारिक रूप

आत्मा ज्ञानेन्द्रियों द्वारा ज्ञान प्राप्त करता है और कर्मेन्द्रियों द्वारा कर्म करता है। ज्ञानेन्द्रियाँ भी और कर्मेन्द्रियाँ भी मन सहित बहिर्गामी हैं। इनका कार्य क्षेत्र प्रकृति है। इन्हीं इन्द्रियों के साथ आत्मा संसार में विचरता है। संसार में विचरते जहाँ वह भोगों को भोगने के कारण भोक्ता कहाता है वहाँ यह कर्म करने के कारण कर्त्ता भी होता है। व्यवहार में हम प्रायः देखते हैं कि यह आत्मा नित नये रूप बदलने वाली मायावी प्रकृति की चकाचौंध में अपने स्वरुप को भूलकर खो जाता है। जिसके साथ भी यह मिलकर चलता है उसे ही 'मैं' पुकारने लग जाता है। हम भलीभांति जानते हैं कि शरीर आत्मा से भिन्न तत्व है परन्तु यह शरीर को 'मैं' पुकारने लग जाता है। ऐसा क्यों है ? क्योंकि उसका स्वभाव है 'तद्‌रूपता' याने साथी के रूप को धारण कर लेना। जैसे अग्नि में पड़ा हुआ लोहे का टुकडा लाल होकर अग्नि जैसा हो जाता है ठीक ऐसा ही आत्मा का स्वभाव है। तभी वह शरीर के साथ मिलकर व्यवहार करते समय अपने स्वरूप को भूल कर अपने को शरीर ही मानने लग जाता है।

सांख्य दर्शन ने विश्व रचना की मीमांसा करते हुए बताया कि सबसे पहले मूलप्रकृति थी। इससे महत्तत्व बना, महत्तत्व से फिर अंहकार बना। सारी की सारी सृष्टि फिर अहंकार तत्व से बनी। हमारे व्यक्तित्व में जो 'अहं' है वह प्रकृति की देन है, आत्मा का गुण नहीं। परन्तु हम देखते हैं कि जब आत्मा इस 'अहं' के सम्पर्क में आता है तो तदाकार हो जाता है क्योंकि तद्‌रूपता उसका स्वाभाविक गुण है। गीता ने भी इस बात की पुष्टि करते हुए कहा :

प्रकृते क्रियमाणानि गुणैः कर्माणि सर्वशः।
अहंकार विमूढ़ आत्मा कर्ताहं इति मन्यते ॥

(प्रकृति के साथ मिलकर आत्मा प्रकृति के धर्मों को अपना धर्म मानने लग जाता है।)

यह भी सत्य है कि प्रकृति को साथ लिये बिना आत्मा अपना विकास कर ही नहीं सकता। उसे मंजिल तक पहुंचने के लिए प्रकृति का सहारा लेना ही पड़ता है। आत्मा प्रकृति का सहारा तो ले परन्तु कठिनाई तब उपस्थित होती है जब सहारा लेते-लेते उसी के रूप में खो जाता है। जब कभी काम, क्रोध, लोभ मोह, की भयंकर आंधी हमें आ दबाती है तो उस समय ऐसा लगता है कि हम इन (काम क्रोधादि) के सिवा कुछ भी नहीं हैं। ऐसे में शरीर का तार-तार इनके वेगों के कारण कांप उठता है और हम आपे से बाहर होकर कर्तव्याकर्त्तव्य सब भूल जाते हैं। तब क्या यह भयानक रूप आत्मा धारण कर लेता है? कदापि नहीं। जैसा पहले लिख आये हैं, क्योंकि आत्मा का स्वभाव विषयों के साथ तद्‌रूप हो जाने का है अतः ऐसा प्रतीत होने लग जाता है। वास्तव में क्रोधादि की अवस्था में आत्मतत्व नहीं बल्कि अहंकारतत्व आवेश में भरा होता है और आत्मा के तद्‌रूप हो जाने के कारण ऐसा प्रतीत होता है जैसे यह आंधी आत्मा में उठी हो।

मान लो कोई व्यक्ति क्रोध में आकर हमें अकारण गाली देता है। इस गाली को सुनकर हमारे अन्दर दो प्रकार की प्रतिक्रियायें हो सकती हैं। एक तो यह कि हम गाली देने वाले के मुँह पर जोर का थप्पड़ मार कर स्वयं भी भड़क उठें और दूसरी यह कि हम उसकी गाली को अन-सुना करके टाल दें और अपने आपको शान्त रखें। आइये इन दोनों प्रतिक्रियाओं का विश्लेषण करें। पहली प्रतिक्रिया ने अहंतत्व को उत्तेजित किया और आत्मा तत्व उसके साथ तदाकार हो गया अतः हम क्रोध से भड़क उठे। परन्तु दूसरी प्रतिक्रिया में हमारे अन्दर क्रोध तो भड़का परन्तु आत्मतत्व उसके साथ, कारण कुछ भी क्यों न रहा हो, तदाकार नहीं हुआ और परिणाम यह निकला कि क्रोध का वेग शीघ्र ही शान्त हो गया। क्रोध के वेग की ही क्या बात सभी मानसिक वेगों के साथ यदि आत्मतत्व तदाकार न हो तो वह शीघ्र ही शांत हो जाते हैं।

आत्मतत्व के तदाकारता के स्वभाव को जानकर यह भी मान बैठना उचित न होगा कि यह आत्मा का अवगुण है। क्योंकि तदाकारता यदि आत्मा का यह स्वभाव न हो तो यह परमात्मा के साथ भी तदाकार न हो सकेगा। योग दर्शन ने इसी बात को स्पष्ट करते हुए स्फटिकमणि का उदाहरण दिया है। स्फटिक मणि के सामने यदि फूल हो

तो उसमें फूल का प्रतिविम्ब पड़ता है। ठीक इसी तरह यह आत्मा स्फटिक मणि के समान है यदि इसके सामने प्रकृति हो तो प्रकृति का और यदि परमात्मा हो तो परमात्मा का प्रतिविम्ब पड़ता है। परन्तु तद्‌रूपता का यह मतलब हरगिज नहीं है कि आत्मा तद्‌रूप होकर फिर अलग नहीं हो सकता। जैसे तदरूपता उसका स्वभाव है वैसे ही पृथकरूपता भी उसका स्वभाव है, उसका गुण है। आत्मतत्व में यह दोनों गुण हैं। जब प्रकृति के साथ वह तद्‌रूपता स्थापित करता है तब प्रकृति के साथ घुलमिल जाता है और अपने स्वरूप को खो देता है। परन्तु उसमें पृथकरूपता का सामर्थ्य भी है। प्रकृति में रहते हुए जब उससे अपनी पृथकरूपता स्थापित कर लेता है तब वह अपने यथार्थ रूप को प्रकट करता है और यही उसका वास्तविक रूप हैं।

यह व्यावहारिक सत्य हम अपने जीवन में अनेक बार देखते हैं। हम चले जा रहे हैं–अपने काम से। मार्ग में दूर से किसी के चिल्लाने की सी आवाज सुनते हैं। उधर से आ रहे व्यक्ति से पूछने पर पता चलता है कि कार के नीचे आकर कोई व्यक्ति कुचला गया है। मन में आशंका उठी, अभी-अभी हमारे आगे-आगे हमारा लड़का घर से निकला था। बस इतनी सी बात मन में आई और हम भागने से लगे घटनास्थल की ओर। वहाँ पहुँचकर दूर से देखा खून से लथपथ शरीर। दिल दहल गया। परन्तु ज्यों ही और आगे बढ़े देखा कोई अपरिचित है। बस फिर क्या था हम एक क्षण भी वहाँ रुके बिना अपने काम से आगे बढ़ गये। अब जरा इस घटना का भी विश्लेषण करें। दुर्घटना की बात सुनकर और क्रन्दन की आवाज पुत्र के साथ जुड़ते ही हम अत्यन्त व्यग्र हो उठे और ऐसा लगा मानो सचमुच ही पुत्र के साथ दुर्घटना घटी है। यह आत्मा के तदाकार होने के कारण हुआ और ज्यों ही पता चला कि उस अभागे का अपने से कोई सम्बन्ध नहीं तो आत्मा ने एकदम पृथकरूपता धारण कर ली और हम झट से जिस काम के लिए घर से निकले थे बड़े शान्त भाव से उधर बढ़ गये।

इसी तरह डाक्टर के पास रोगी आते हैं चिकित्सा के लिए। डाक्टर पूरी सूझबूझ के साथ उपचार करता है। बहुत से रोगी ठीक हो जाते हैं परन्तु कोई–कोई मर भी जाता है। डाक्टर को उस मरे रोगी के लिए कभी किसी ने रोते–चिल्लाते नहीं देखा। दुर्भाग्य से यदि यही घटना अपने ही किसी स्वजन के लिए हुई हो और डाक्टर के पूरे परिश्रम के बावजूद भी स्वजन बच न पाया हो तो वही डाक्टर फूट–फूट कर रोने

लगता है। ऐसा क्यों ? यह दोनों अवस्थायें आत्मा की पृथकरूपता तथा तद्रूपता के कारण हैं।

आत्मा कर्त्ता है भोक्ता है और द्रष्टा है। यह सब कुछ वह तभी है जब प्रकृति में रहता हुआ वह तद्रूप या तदाकार न हो जाये, प्रकृति में अपने को खो न दे। प्रकृति को अपना साधन समझे और साधन बनाकर जैसे चाहे उसका उपयोग करें।

कुछ लोगों का कहना है कि आत्मतत्व प्रकृति को त्यागे बिना अपने विकास के मार्ग पर नहीं चल सकता। यह उनका सर्वथा निर्मूल विचार है क्योंकि प्रकृति का सहारा पाये बिना आत्मा एक कदम भी चल नहीं सकता। उसे अपने विकास के लिए प्रकृति का सहारा तो लेना ही है। हाँ भूल तब होती है जब वह शनैः शनैः प्रकृति के आकर्षण में अपने को खोने लगता है। प्रकृति में रहते यदि वह अपने स्वरूप को बनाये रहे तो विकास के सभी द्वार उसका स्वागत करने को तत्पर रहते हैं।

आत्मतत्व असीम शक्ति का भण्डार है।

जब आत्मतत्व अपने स्वरूप में टिक जाता है तो उसमें असीम शक्ति का जाग्रण हो उठता है। जिस प्रकार पाँचों महाभूत जड़ समान हैं परन्तु उनमें असीम शक्ति भरी पड़ी है। जल व्यर्थ बहा जा रहा है। नदी पर बाँध बना दिया जाता है तब जहाँ उस जल से भूमि शस्यश्यामला बनाई जा सकती है वहाँ दूसरी ओर बिजली का उत्पादन हमारे कल–कारखानों को चलाने और उद्योगों को बढ़ावा देकर हमारे लिए नाना–विध सुख सामग्री निर्माण का कारण बन जाता है। इसी प्रकार भूमि को उचित उरवरक से अधिक उपजाऊ बनाकर एक–एक बीजे अन्न के दाने से सैकडों दाने अन्न के प्राप्त किये जा सकते हैं। ऐसी ही शक्ति अग्नि में छिपी पड़ी है। इसी प्रकार आत्मतत्व में भी असीम शक्ति भरी पड़ी है। परन्तु इतना जान लेने मात्र से ही उसकी शक्ति जाग नहीं उठती उस शक्ति को जगाने के लिए घोर तप की आवश्यकता होती है। आत्मतत्व की शक्ति, पृथ्वी, जल और अग्नि की भांति बिजली और भाप आदि की तरह की नहीं होगी क्योंकि भौतिक तत्व तो भौतिक शक्ति पैदा करते हैं परन्तु आध्यात्मिक तत्व से जो शक्ति उत्पन्न होगी वह आध्यात्मिक होगी। वह होगी द्वेष के स्थान पर प्यार, स्वार्थ के स्थान पर परार्थ, अशान्ति के स्थान पर शान्ति तथा अनेकता के स्थान पर एकता। आज समस्त संसार शान्ति और विश्वबन्धुत्व के नारे बुलन्द कर रहा है। उसके लिए कई

प्रकार की युद्ध सामग्री को नष्ट करने के समझौतों पर हस्ताक्षर कर रहा है परन्तु आर्य संस्कृति डंके की चोट पर यह कह सकती है कि यह जो भौतिक तत्व शांति और विश्वबन्धुत्व के लिए प्रयोग में लाए जाने के प्रयास हो रहे हैं-सब अधूरे है। इन प्रयोगों की खोज उस स्थान पर करनी होगी जहाँ इसके स्रोत बह रहे हैं और वह स्थान है आत्मा। वहीं इन तत्वों के लिए शक्ति का भण्डार है। छल कपट से दूर इस शांत सागर में गोता लगाकर ही शांति के अमूल्य रत्न बटोरे जा सकते हैं।

प्रकृति और आत्मतत्त्व में सहयोग भी और संघर्ष भी।

जब से सृष्टि का आरम्भ हुआ प्रकृति और आत्मा का परस्पर सहयोग भी रहा और संघर्ष भी चलता रहा। सहयोग इसलिए कि बिना शरीर (प्रकृति) का सहारा पाए आत्मा एक पग भी आगे बढ़ नहीं सकता। मानव शरीर में बंधकर ही आत्मा पकड़ में आता है। पिछली मैल धोने और नया रंग चढ़ाने के लिए भिन्न भिन्न असंख्य योनियां भोगने के पश्चात् यह दुर्लभ मानव चोला मिलता है अतः इस एक मात्र सहारे को छोड़ा नहीं जा सकता। इसका सहयोग पाना अनिवार्य है और फिर शरीर भी ऐसा जिसमें सप्तऋषि आसन जमा कर बैठे हैं जिनका एक मात्र उद्देश्य शरीर के मालिक को अनिष्ट से बचाना और अभीष्ट को प्राप्त कराना है। उन्हीं की तपोसाधना के कारण यह शरीर साधना स्थली बना हुआ है, यज्ञ वेदी बना हुआ है। यह सप्तऋषि हैं दो आँखे, दो कान, दो नासिकाएं और एक रसना। याने ज्ञान इन्द्रियाँ इस ज्ञान यज्ञ के लिए शरीर में बैठी हैं। इनके यज्ञ करने से शरीर की रक्षा होती है। सचमुच यह ऋषि हमारे शरीर के हितैषी और रक्षक हैं इस प्रकार के सुरक्षित तथा यज्ञपारायण शरीर का सहयोग पाये बिना और कोई चारा नहीं। इसी के द्वारा आगे का मार्ग सुगमता और सरलता के साथ निश्चित होता जाता है।

संघर्ष इसलिए, कि प्रकृति बड़ी चकाचौंध वाली लुभावनी और आकर्षक है। इसकी चमक–दमक देखकर आत्मतत्व उधर खिंचा चला जाता है। परन्तु जहाँ जरा संभला और उसके आकर्षण से निकलने का प्रयत्न शुरु हुआ संघर्ष शुरु हो जाता है। प्रकृति चाहती है कि आत्मतत्व उसके मोहपाश में बंधा रहे। वह उसके लिए नित नये प्रलोभनों का आकर्षण बनाये रखने में सदा यत्नशील रहती है और चाहती है कि यह

उसके पल्लू से बंधा हुआ नये नये नाच नाचता हुआ उसके संग बना रहे। जब तक प्रकृति आत्मतत्व पर छायी रहती है आत्मतत्व अपने स्वरूप को भूला रहता है। परन्तु ज्यों ही मोह के पाशों को तोड़कर उसके बन्धन से मुक्त होने का प्रयत्न करता है संघर्ष शुरू हो जाता है। जब–जब आत्मतत्व अपने स्वरूप में स्थित होने का यत्न करता है वह संघर्ष करता हुआ प्रकृति रूपी रथ पर रथी बनकर सवार हो जाता है। तब बुद्धि रूपी सारथी की कुशलता पाकर वह विकास के मार्ग पर चल देता है।

यहां एक शंका उत्पन्न होती है कि यह संघर्ष विकास के मार्ग पर चल निकलने के बाद भी बना रहता है या समाप्त हो जाता है ? वृह–दारण्यक उपनिषद् के ऋषि कहते है कि विकास के पथिक की ही बात नहीं, विकास के शिखर पर पहुँच कर भी यह खतरा सदा बना ही रहता है। यह कैसे ? देखिये :—

प्रजापति की तीन सन्तानें

प्रजापति की तीन सन्तानें हैं—देव, मनुष्य और दानव। तीनों मिल कर प्रजापति के पास गये और उपदेश के लिए प्रार्थना की। प्रजापति ने कहा 'द' 'द' 'द' और इतना कहने के पश्चात् देवों से पूछा कि क्या समझे ? देवों ने उत्तर दिया, समझ गये भगवन् आपने आदेश दिया है 'दाम्यतं' याने दमन। 'ठीक समझे पुत्र' फिर उन्होंने मनुष्यों से पूछा आप क्या समझे ? मनुष्यों ने उत्तर दिया, आपका आदेश है कि 'दत्त' याने देना, दान देना। ठीक समझे आप भी पुत्र। फिर उन्होंने दानवों से पूछा आप क्या समझे? उन्होंने उत्तर दिया, आपने कहा है 'दयध्वम्' याने दया। 'आप भी ठीक समझे वत्स'। तो इस कथन का अभिप्राय यह है कि देवों के लिए अपने देवत्व की रक्षा के लिए दमन अनिवार्य है। संयम से ही देवत्व स्थिर रहता है और विकास का मार्ग प्रशस्त होता है। संयम का बांध टूटते ही गिरावट आते देर नहीं लगती अतः यदि यह कहा जाये कि संघर्ष समाप्त हो जायेगा तो ऐसा नहीं यह तो जीवन के अन्तिम क्षणों तक बनाती रहेगा। इसी प्रकार मनुष्यता को बनाए रखने के लिए दान की महिमा कही और दानवों को आदेश बड़ा ही स्पष्ट था कि दूसरों पर दया करो। स्वयं जिओ और दूसरों को जीने दो।

पांच कोशों द्वारा आत्मा का परिचय

तैत्तिरीय उपनिषद् में पाँच कोशों का वर्णन आता है। उपनिषद् का कहना है कि हमारे भीतर पाँच कोश हैं:– अन्नमय कोश, प्राणमय कोश,

मनोमय कोश, विज्ञानमय कोश तथा आनन्दमय कोश। आत्मा का निवास किसी भी कोश में हो सकता है। जिन प्राणियों के जीवन का लक्ष्य केवल खाने-पीने तक सीमित है वे अन्नमय कोश में जीते हैं। भौतिक जीवन ही उनका जीवन है। आध्यात्मिकता उनमें लेशमात्र भी नहीं होती यह अवस्था पशुओं में तथा कई मनुष्यों में भी पायी जाती है। जो व्यक्ति खाने–पीने के जीवन से ऊपर उठ जाते हैं, उपनिषद के अनुसार वे प्राण-मय कोश में जीते हैं। अन्नमय जीवन वाला, पशु हो या मनुष्य हो, यही समझता रहता है कि मैं शरीर हूँ। प्राणमय जीवन वाला अपने को शरीर से भिन्न भी कुछ हूँ ऐसा अनुभव करने लगता है। प्राणमय सत्ता में जीने वाला जीवन के प्रति सजग हो उठता है, यह स्थिति पशुओं में नहीं आती जब आत्मा का मनोमय कोश में निवास होता है। तब व्यक्ति का मानसिक जीवन जग जाता है। मन तो मनुष्य मात्र में है परन्तु हर कोई मन से काम नहीं लेता। मन हम से काम लेता है। मानसिक जीवन जग जाने पर मन की गति विद्या तथा अविद्या, ज्ञान तथा अज्ञान दोनों दिशाओं में चलने लगती है। और जब यह स्थिति आ जाये कि अविद्या और अज्ञान उससे छूटकर विद्या और ज्ञान ही शेष रह जाये तब चौथे स्तर में प्रवेश होता है और इसे विज्ञानमय कोश में निवास कहते हैं। अर्थात् मनोमय कोश के बाद, उसके भी भीतर आत्मा का एक और कोश है जो विज्ञान-मय है। विज्ञानमय कोश के बाद आत्मा का आनन्दमय कोश आता है। आत्मा परमात्मा के आनन्द में बसने लगता है।

वास्तव में यह पाँचों कोश मानव जीवन की भिन्न-भिन्न स्थितियाँ हैं। पहली स्थिति वह है जिसमें केवल शरीर ही दीखता है। खाना-पीना इन्द्रियों के विषयों का भोग ही जीवन का एक मात्र लक्ष्य रहता है। इस स्थिति को अन्नमय कोश कहते हैं। दूसरी स्थिति है जिसमें शरीर के अतिरिक्त आत्मसत्ता का अनुभव होने लगता है। यह प्राणमय स्थिति है। तीसरी स्थिति वह है कि जब मनुष्य की सोई हुई मानसिक शक्तियाँ जग जाती हैं। यह मनोमय कोश की स्थिति है। चौथी स्थिति वह है जब यथार्थ ज्ञान और सत्य का साक्षात्कार हो जाता है और तब अन्तिम और पांचवी स्थिति आती है जब उसे आत्म शक्ति और परमात्म शक्ति का आभास हो जाता है। वह शरीर और प्रकृति से अपने को पृथक जानकर आत्म स्वरूप में आ जाता है।

कोशों बारे श्री अरविन्द का चिन्तन

इस युग के प्रसिद्ध विचारक श्रीअरविन्द जी ने इन कोशों के बारे में एक नया ही दृष्टिकोण दिया है। जानकारी के लिये उसका उल्लेख कर देना

अप्रासंगिक नहीं होगा। उनका कहना है कि आत्मतत्व अपने को प्रकृति द्वारा ही प्रकट कर सकता है और किसी तरह नहीं। जब आत्मतत्व प्रकृति को माध्यम बनाकर अपने स्वरूप को प्रगट करता है तो सृष्टि विकास के मार्ग पर चल देती है। आत्मा के विकास की प्रक्रिया में सबसे पहली अवस्था तब आती है जब जड़ जगत् में किसी भी स्थल पर चेतना का आविर्भाव हो जाता है। यह चेतना क्या है? यह आत्मतत्व का प्रकृति को माध्यम बनाकर अपने को प्रगट करने का एक प्रयत्न है। इसी का नाम देह का उत्पन्न हो जाना है। जितना अन्नमय जगत् है, वृक्ष, लता, वनस्पतियाँ आदि यह सब आत्मतत्व का प्रथम प्रकाश है। इसमें प्राण न होने पर भी बढ़ने, फलने, फूलने का सामर्थ्य है। आत्मतत्व का यह प्रकाश अत्यन्त प्रारम्भिक तथा निम्न स्तर का है। यह आत्मा का अन्नमय कोश है।

इसके बाद दूसरी अवस्था तब आती है जब प्राणों का विकास हो जाता है। यह अवस्था कीट-पतंग पशु-पक्षियों आदि योनियों में होती है। इस अवस्था में आत्मतत्व का प्रकाश वृक्षादि के समान देह तक ही न रह कर प्राण तक चला जाता है। यह आत्मतत्व का प्राणमय कोश है। इसके बाद आत्मतत्व कुछ अधिक वेग पकड़कर गतिशील होता है, तब मन प्रगट होता है। यह अवस्था आत्मतत्व के प्रकाश की तीसरी अवस्था है। यह मनुष्यों में पाई जाती है और यह आत्मतत्व का मनोमय कोश है। श्री अरविंद का कहना है कि विकासोन्मुख आत्मतत्व अभी इस तीसरी अवस्था से आगे नहीं बढ़ पाया है। चौथी अवस्था अभी आने वाली है। जिस प्रकार आत्मतत्व के प्रकाश में देह प्रगट हुआ, फिर प्राण प्रगट हुआ और फिर मानस प्रगट हुआ। इसी तरह चौथा तत्व अति मानस के रूप में प्रगट होगा। सृष्टि में देह का प्रगट होना एक महान घटना थी। उसके बाद जब प्राण प्रगट हुआ तब दूसरी महान घटना घटी, फिर जब मानस प्रगट हुआ तब तीसरी महान घटना घटी और अब जब अतिमानस प्रगट होगा तब आत्मतत्व के प्रगट होने की महानतम घटना होगी। यह आत्मतत्व का विज्ञानमय कोश होगा। श्री अरविन्द का कहना है कि जिस प्रकार वनस्पति एक विशेष योनि है और पशु-पक्षी कीट पतंग दूसरी योनि है और मनुष्य एक तीसरी योनि है इसी प्रकार अतिमानस के प्राणी एक भिन्न ही प्रकार के व्यक्ति होंगे। जो जरामरण से मुक्त होंगे। उनका शरीर एक दिव्य शरीर होगा। हमारा मन ज्ञान के लिये प्रयास तो करता है परन्तु प्रयास करता हुआ भी अज्ञान से बन्धा रहता है। अतिमानस प्रगट हो जाने पर अज्ञान से इसका

सम्बंध पूर्ण रूप से टूट जायेगा और ज्योति तथा दिव्य प्रकाश भर जाने के लिये सदा खुला रहेगा।

श्री अरविन्द के कहने का अभिप्राय यही लगता है कि अभी तक सृष्टि अन्नमय, प्राणमय और मनोमय कोश तक ही विकसित हुई है। विज्ञानमय कोश का विकास होना अभी बाकी है। श्री अरविन्द कहते हैं कि जैसे पारदर्शक शीशे के पीछे की वस्तुएँ स्पष्ट दिखाई देती हैं वैसे ही मानस के आगे अतिमानस विकसित होता हुआ भी स्पष्ट दिखाई दे रहा है।

श्री अरविन्द की विचारधारा का आधार जहाँ तक हम समझते हैं तैत्तिरीय उपनिषद् में आया पांच कोशों का वर्णन ही है। यद्यपि उन्होंने पांचवे कोश का उल्लेख नहीं किया लेकिन समझना चाहिए कि उसका कारण यही रहा होगा कि जब विज्ञानमय ही प्रगट नहीं हुआ तो आनन्दमय कोश का वर्णन अकार्थ है। जिस प्रकार उनके विचार से विज्ञानमय कोश के प्रगट होने पर अथवा अतिमानस के प्रगट होने पर अज्ञान का नाश हो जायेगा उसी प्रकार आनन्दमय कोश के प्रगट हो जाने पर निरानन्दता समाप्त हो जायेगी।

शरीर और आत्मा भिन्न-भिन्न परन्तु घनिष्टता का सम्बन्ध

शरीर और आत्मा दोनों भिन्न-भिन्न होते हुये भी इन दोनों में घनिष्टता का संबंध है। यह संबंध वही है जो हम सबको दीखता है। शरीर आत्मा के भोग का साधन है। अतः आत्मा और शरीर का संबंध भोक्ता और भोग्य का है। कर्त्ता और कर्म का है। इन दोनों के संबंध को युक्तियों से सिद्ध करने की आवश्यकता नहीं। यह एक स्वयंसिद्ध सत्य है कि चेतन ही जड़ का उपभोग कर सकता है, जड़ चेतन का नहीं। मनुष्य ही मकान में रह सकता है, मकान मनुष्य में नहीं रहता।

यह एक कठोर सत्य मानते हुये भी कि आत्मा और शरीर दो भिन्न-भिन्न तत्व हैं, व्यवहार में प्रायः हम बहुत भिन्नता देखते हैं। शरीर के दुःख के साथ हम दुःखी और शरीर के सुख के साथ हम सुखी ऐसा ही मानकर सारा व्यवहार चलाते हैं। यह सब क्यों? क्योंकि आत्मा शरीर के साथ इतना तदाकार हो गया है कि वह अपने में शरीर से जुदा होना ही नहीं चाह रहा।

हमारे ऋषियों ने घोषणा की थी कि शरीर आत्मा नहीं है वह आत्मा का साधन है। आत्मा शरीर का भोक्ता है, आत्मा उसका रथी है-'आत्मनं रथिनं विद्धि शरीरं रथमेव तु,' यथार्थ सत्य यही है कि आत्मतत्व अपने को शरीर में खोये दे रहा है। स्वयं को रथ और शरीर

को रथी समझ बैठा है। शरीर के लिये अपने को मिटाये दे रहा है। सिर ऊंचा करने की बजाय शरीर के सामने नत मस्तक हुआ जा रहा है।

आध्यात्मवाद शरीर की सत्ता से इंकार नहीं करता। इसको एक अटल सत्ता मानता है परन्तु इसके परे आत्मतत्व की सत्ता, जो इससे बड़ा सत्य है उसे भी भुलाना नहीं चाहता। 'जीवेम् शरदः शतम्' का नाद करने और सौ वर्ष तक जीने की अभिलाषा रखने वाले इस शरीर की अवहेलना करने जैसी बहुत बड़ी भूल क्योंकर कर सकता है। इसे चुस्त दुरुस्त रखना, स्वस्थ रखना आत्मतत्व के विकास की बहुत बड़ी आवश्यकता है।

'न अयं आत्मा बलहीनेन् लभ्य' (उपनि.)

बलहीन, दुर्बल शरीर वाला व्यक्ति अध्यात्म के मार्ग पर चल ही नहीं सकता। टूटी फूटी नाव से नदी के पार उतरने की आशा कोई बावला ही कर सकता है। आध्यात्मवाद का कहना है कि शरीर को स्वस्थ रखने की उसकी आवश्यकताओं को पूरा करो परन्तु उन्हें पूरा करते करते उन्हीं में खोकर न रह जाओ। यह हमारी अगली यात्रा का साधन है–रथ है, इस पर सवार होकर-रथी बनकर और आगे की यात्रा पर चल दो। यहीं रुको मत।

दूसरी बात इस अध्याय में जिस पर विचार किया गया, उसका सार है कि आतमा अभौतिक है और शरीर भौतिक। फिर इन दोनों का मेल कैसे हो ? इन दोनों का मेल अन्तःकरण के माध्यम से होता है। अन्तःकरण भौतिक होता हुआ भी अभौतिक जैसा है। इसी अन्तःकरण तथा सूक्ष्म भौतिक तन्मात्राओं के योग से सूक्ष्म शरीर बनता है। (सूक्ष्म शरीर क्या है इसका वर्णन प्रकरण अनुसार आगे किया जायेगा) जो सम्पूर्ण जन्मों के संस्कारों का आश्रय स्थल है। इस सूक्ष्म शरीर के सहारे ही आत्मा उसे उपकरण बनाकर सृष्टि का उपभोग करता है।

तो मैं कौन हूँ ? पूछने वाला स्वयँ आत्मा ही है। 'मैं' शब्द का साधिकार प्रयोग करने वाला एकमात्र आत्मा ही है उसके बिना 'मैं' का प्रयोग और कोई कर ही नहीं सकता।

कहाँ से आया हूँ ?

कठोपनिषद् में एक कथा आती है–नचिकेता की। उसने यमाचार्य से पूछा था कि व्यक्ति देह रूपी चोले को धारण करता है तो

उसे कहा जाता है उत्पन्न हुआ और जब उस चोले को छोड़कर चल देता है तो कहा जाता है कि मर गया। यह मरना और उत्पन्न होना क्या वस्तु है? मरना क्या है और जीवन क्या है? यह उत्पन्न होने वाला कहां से आता है और जाने वाला कहाँ जाता है? अथवा हम यहीं पर पैदा होते हैं और यहीं समाप्त हो जाते हैं। न कहीं से आते हैं और न कहीं जाते हैं? यह शरीर ही आदि है और यही अन्त है?

नचिकेता के प्रश्नों की झड़ी में दो बातें मुख्य हैं। पहली तो यह कि कुछ लोग कहते हैं कि आत्मा देह से भिन्न हैं और दूसरे यह कहते हैं देह ही आत्मा है। न यह कहीं से आता है और न ही कहीं जाता है। देह ही जन्मता है और देह ही मरता है। नचिकेता की दूसरी शंका का आधार सम्भवतः चार्वाक का सिद्धाँत रहा हो जिसकी मान्यता है कि 'भस्मी भूतस्य देहस्य पुनरागमनं कुतः' कि शरीर नष्ट हो गया, भस्म हो हो गया, उसका आना जाना कैसा? नचिकेता ने यमाचार्य से इस उलझन भरी समस्या के स्पष्टीकरण की प्रार्थना की थी।

यमाचार्य ने नचिकेता के मुख से इतने गहन और गम्भीर प्रश्न को सुना और फिर उसकी युवावस्था को देखते हुए उसकी उत्सुकता की गहराई से जाँच करने के हेतु उसे इस प्रश्न से हटकर सँमार भर के सुख और वैभव माँगने को कहा। परन्तु युवक किसी भी प्रलोभन में न आया और अपनी आस्था पर अडिग रहा। तब यमाचार्य ने जो बात आत्मा के सम्बन्ध में कही वह हम पहले भी लिख आये हैं कि यह आत्मा अनुत्पन्न अनादि और कभी न मरने वाला है। यह न किसी का उपादान कारण है और न ही कोई दूसरा इसका उपादान कारण है। यह सर्वथा भिन्न है और शरीर के नष्ट हो जाने पर भी नष्ट नहीं होता। अज्ञानी लोग ही समझते हैं कि इसे कोई मार सकता है, ज्ञानी नहीं।
यही बात यजुर्वेद में भी कही गई है और इशोपनिषद् जो कि यजुर्वेद का थोड़े से भेद से चालीसवाँ अध्याय ही है, में भी कही गई है।

'वायुरनिलं अमृतमेथदं भस्मान्तं शरीरम्'

शरीर में आने जाने वाली आत्मा अमृत है न मरने वाली है और शरीर भस्मान्त यानी मरणधर्मी है।

इसी मान्यता को गीता ने तो बड़ी सरल युक्ति से अर्जुन को समझाना चाहा था। भगवान् कृष्ण ने कहा था:-

वासांसि जीर्णानि यथा विहाय नवानि गृहणाति नरो अपराणि
तथा शरीराणि विहाय जीर्णान्यन्यनि संयाति नवानि देही ॥

यह शरीर तो एक वस्त्र के समान है और जैसे फटे पुराने वस्त्र को उतारकर नया पहन लिया जाता है इसी प्रकार प्राणी का शरीर है जीर्ण शीर्ण होने पर आत्मा इसे छोड़ नया धारण कर लेता है। तो यही एक शरीर को छोडना मृत्यु है और दूसरे को धारण करना जन्म है। अपने अपने ज्ञान और कर्मों के अनुसार यह आत्मा एक शरीर से दूसरे शरीर में आता जाता रहता है।

'यथा कर्म यथा श्रुतम्'। (कठोपनिषद्)

निरूक्त ने आत्मा शब्द की व्युत्पत्ति करते मानो गागर में सागर भर दिया है। निरुक्ताचार्य महर्षि यास्क आत्मन शब्द का विवेचन करते हुये लिखते हैं कि

'आत्मा अततेर्वा आहोवी व्याप्ति कर्मण:' (निरूक्त)

आत्मा को आत्मा कहा ही इसलिये जाता है कि वह अपना घर बदलता रहता है। एक शरीर से दूसरे में, दूसरे से तीसरे में और इसी प्रकार चौथे पाँचवे में आता जाता रहता है। एक ही शरीर में सदा टिका नहीं रहता निरंतर निवास बदलता ही रहता है।

इसे आत्मन् इस लिये भी कहते हैं कि यह गति देने वाला है। जूंही शरीर में प्रवेश करता है, तत्काल शरीर के अंग प्रत्यंग को गतिमान कर देता है और जब तक शरीर में रहता है अंग प्रत्यंग की अभिवृद्धि भी इसी के गतिमान होने का परिणाम है।

इसको आत्मन् इसलिये भी कहते हैं कि यह जीवन-ज्योति का कारण है. इसके शरीर में प्रवेश करते ही शरीर का कण-कण ज्योतित हो उठता है और जब तक यह शरीर में रहता है अपनी शरीर रूपी अयोध्या नगरी को जगमग बनाये रखता हैं।

महर्षि यास्क कहते हैं कि आत्मन् शब्द की ब्युत्पत्ति इतनी सार्थक है कि आत्मन् शब्द कहते ही इसके तीनों महत्वपूर्ण अर्थ सामने आ जाते हैं। पहला निरन्तर घर बदलते रहने का, दूसरा गति का स्रोत होने का और तीसरा शरीर के अंग प्रत्यंग के कोने-कोने को प्रकाशित बनाये रखने का। आत्मा के इन गुणों के कारण और एक शरीर को छोड़ कर दूसरे में जाने का नाम ही पुनर्जन्म है।

पुनर्जन्म रूप परिवर्तन का ही दूसरा नाम है

पिछले प्रकरणों में हमने यह सिद्ध करने का यत्न किया कि आत्मा की एक स्वतन्त्र सत्ता है। वह पैदा नहीं होता, अनादि है। वह मरता

भी नहीं, अमर है। वह नष्ट भी नहीं होता, अनश्वर है। ऐसा मानकर ही संसार का चक्र चल रहा है यदि आत्मा को अमर न मानें तो दुनिया का काम चल नहीं सकता। चले भी तो किस के लिये? जिसके लिए सृष्टि का प्रवाह चल रहा है वह ही न हो तो सब बेकार हो जायेगा चूंकि सृष्टि का प्रवाह अनादि है अनन्त है, इसलिये आत्मा भी अनादि है और अनन्त है।

विज्ञान कहता है कि कोई भी चीज नष्ट नहीं होती केवल रूप बदलती है। इसे ऊर्जा संरक्षण (CONSERVATION OF ENERGY) का सिद्धान्त कहते हैं। भौतिक पदार्थ भी नष्ट नहीं होते उनका भी रूप परिवर्तन ही होता है। बर्फ पिघली पानी बना, पानी से भाप बनी, भाप बादल के रूप में आई और बरसने पर पुनः पानी और जमकर फिर से बर्फ। इस तरह अनेक रूप बदल कर भी पानी पानी ही रहा। इसी सिद्धान्त के अनुसार जैसे भौतिक पदार्थ रूप बदलते हैं आध्यात्मिक जगत् भी रूप बदलता रहता है। आत्मा को हमने माना कि उसकी अपनी एक स्वतन्त्र सत्ता है। एक शरीर को छोड़कर जब दूसरे में जाता है तो यह केवल रूप परिवर्तन ही है और इसी का नाम पुनर्जजन्म है।

आत्मा कहाँ से आता और फिर कहाँ चला जाता है?

इस प्रकार हमने जान लिया है कि आत्मा देह से अलग है। अब प्रश्न उठता है कि देह धारण करने के लिये कहां से आता है और फिर देह को छोड़कर कहां चला जाता है? उपनिषद् के ऋषियों का कहना है कि आत्मा अमर (IMMORTAL) है। वह पीछे कहीं से आता है। देह धारण करता है और फिर उसे छोड़कर अगली जीवन यात्रा पर चल देता है। आत्मा का अस्तित्व और उसका अमरत्व यह दो पुनर्जन्म के सिद्धांत के आधार स्तम्भ हैं।

गीता द्वारा आत्मा की जीवन यात्रा का वर्णन

गीता ने बड़े सुन्दर शब्दों में आत्मा की इस जीवन यात्रा का वर्णन किया है।

'न त्वेवाहं जातु नासं नत्वं नेमे जनधिपा:
न चैव न भविष्याम: सर्वे वयमत: परम। (गीता)

(ऐसा कभी नहीं था कि जब मैं न था। ऐसा भी कभी न था जब तू न था। ऐसा भी कभी नहीं था जब युद्ध के लिये सामने खड़े राजा महाराजा न थे। ऐसा भी कभी नहीं होगा जब तू, मैं या यह नहीं रहेंगे।)

कुरूक्षेत्र के मैदान में अपने भाई बन्धुओं को सामने देखकर अर्जुन ज ब मोहवश युद्ध से पलायन करने लगा तब श्रीकृष्ण ने आत्मा को अमर कभी न मरने वाला बताते हुये जीवन यात्रा के बारे में इस प्रकार कहना आरम्भ किया।

जीवन तथा मृत्यु एक यात्रा है। इस यात्रा में पडाव के बाद पड़ाव और स्टेशन आते चले जाते हैं जिसने जहाँ तक जाना होता है अपने पड़ाव या स्टेशन आने पर उत्तर जाता है। कुछ देर वहां काम धंधा निपटा कर फिर अगले पड़ाव के लिये चल देता है। प्रत्येक पड़ाव पर सहयात्री मिलते हैं। उनके साथ उतने समय तक ही सम्बन्ध रहता है, जितने समय तक यात्रा चलती रहती है। उस के बाद यात्री जब नई यात्रा के लिये चल पड़ता है तो नये संगी साथी मिल जाते हैं और पुराने भूल जाते हैं। यही जीवन तथा मृत्यु की कहानी है। जीवन तो सदा जीवन है, केवल मृत्यु का ही नाम पुनर्जन्म है।

जीवन नदी के समान है

कल्पना कीजिए कि हम एक नदी के पुल पर ऐसे स्थान पर खड़े हैं जहाँ से नदी के दोनों ओर आगे भी और पीछे भी दूर तक देख सकते हैं। जिधर से पानी आ रहा है उधर जहाँ तक हमारी दृष्टि जाती है एक काल्पनिक विंदु लगाइये। अब जिधर को पानी बह रहा है उधर भी जितनी दूर तक दृप्टि जाती है एक दूसरा काल्पनिक बिन्दु लगाइये। यदि कोई यह कहे कि इन दोनों बिन्दुओं के बीज जो पानी बह रहा है इसका नाम नदी है तो हम कदापि मानने को तैयार न होंगे। कारण हम देख रहे हैं कि ढेरों पानी हमारे देखते-देखते पुल के नीचे से बहकर आगे बढ़ गया है। कहाँ गया है यह पानी? हम नहीं देख पाते परन्तु यह एक अटल सत्य है कि कहीं पीछे से आ रहा है और आगे को जा रहा है। नदी इतनी ही नहीं जितनी हमें दिखाई दे रही है। नदी का बहुत बड़ा भाग पीछे भी है और शायद उससे भी अधिक बडा भाग आगे भी है। इस सारी का नाम नदी है न कि उतने छोटे से भाग का नाम जो हमें दिखाई दे रहा है। ठीक यही स्थिति हमारे जीवन की है। यह जो जीवन हमें दिखाई दे

रहा है नदी के दो बिंदुओं के बीच के समान हमारे अनन्त जीवनों का बहुत छोटा सा भाग है। यह जो जीवन हम देख रहे हैं इसका बीज कब बोया गया यह भी हमें मालूम नहीं और इसका फल कब तक चखते रहेंगे यह भी हम नहीं जानते। इसका बहुत बड़ा भाग पीछे छोड़ आये हैं और मालूम नहीं कितना बड़ा भाग आगे है। पिछले जन्म को इस जन्म से और इस जन्म को अगले जन्म से जोड़ने वाली जो शृंखला है उसी का नाम आत्मा है। वही इन सब जन्मों को एक सूत्र में पिरोये चला जा रहा है।

हमने अपने जीवन में अनेक काम किये। अच्छे भी किये और बुरे भी किये। चाहकर भी किये और अनचाहे भी अनेक काम हुये। अनेकों का फल तत्काल ही या शीघ्र ही मिल गया परन्तु ऐसे भी बहुतेरे रहे जिनका फल इस जन्म में मिलता दिखाई नहीं दिया। विद्यार्थी ने परीक्षा के लिये डटकर परिश्रम किया। परिणाम घोषित हुआ। अच्छे नम्बरों में पास होने का फल मिल गया। भूख लगी थी भोजन खाया। तत्काल फल मिला भूख शांत हो गई। श्रमिक ने दिन भर काम किया सायं को पगार मिली। फल पाकर सारे दिन की थकावट जाती रही। चोर ने चोरी की, मौके पर पकड़ा गया। मुकदमा चला सजा हुई। यह सब अच्छे बुरे फल हैं जो तत्काल मिल गये। परन्तु ऐसे भी असंख्य लोग होंगे जो जीवन भर चोरियाँ करते रहे लेकिन पकड़े कभी नहीं गये। इसका अर्थ कदापि यह नहीं समझना चाहिये कि उन्हें इसका फल मिलेगा ही नहीं। क्योंकि 'अवश्यमेव भोक्तव्यं कृतं कर्म शुभाशुभम्' के अनुसार कर्म शुभ हो अथवा अशुभ फल तो भोगना ही होगा।

तीन प्रकार के कर्म—

१) क्रियमान कर्म २) प्रारब्ध ३) संचित।

क्रियामान कर्म वे हैं जो हम कर रहे हैं। परन्तु यही कर्म हो चुकने पर तुरन्त संचित की श्रेणी में चले जाते हैं या फिर उसी समय फल मिल जाने पर प्रारब्ध की कोटि में आ जाते हैं। जैसा पहले खाना खाने आदि का उदाहरण दिया है कि खाना खा रहे हैं यह तो क्रियमान कर्म है और खा चुकने पर पेट भर गया, भूख मिट गई बस यही कर्म प्रारब्ध बन गया।

प्रारब्ध कर्म वे हैं जिनका फल मिल चुका अथवा मिलना शुरू हो गया है। प्रारब्ध इसलिये कि उनका फल मिलना प्रारम्भ हो गया है। प्रारम्भ से ही प्रारब्ध दोनों में एक ही धातु है।

संचित कर्म वे हैं जो पिछले जन्म जन्मांतरों से करते आ रहे हैं और उनका अभी तक फल नहीं मिला। जिनका फल मिल चुका है वे संचित की श्रेणी में नहीं आते।

'न भुक्तं क्षीयते कर्मं' जब तक कर्म का फल भोग न लिया जावे वह क्षीण नहीं होता।

जाति आयु और भोग

हमारे इस शरीर में आने से पूर्व उपर्युक्त तीन बातों का निर्णय हो चुका था। जाति से अभिप्राय ब्राह्मण, क्षत्रीय आदि नहीं। जाति का अर्थ है योनि, मनुष्य, पशु, पक्षी, कीट पतंग आदि योनियाँ। इसी प्रकार आयु, आयु भी योनि अनुसार, क्योंकि प्रत्येक योनि की अनुमानित आयु भिन्न-भिन्त होती है जैसे मनुष्य की १०० वर्ष और कीट पतंगों की केवल कुछ क्षण ही।

तीसरी बात आती है भोग की। यह भी शरीर धारण करने सेपहले ही निश्चित हो गये थे। तो प्रश्न यह उठता है कि यह सब कैसे हुआ ? हमारे संचित कर्मों में से जो प्रभावी संचय था उसके अनुसार यह सब हुआ। दूसरे शब्दों में यूं भी कहा जा सकता है कि जन्म-जन्मातर में किये हुये कर्म को भोगने के लिये शरीर धारण करना ही एकमात्र रास्ता है। शरीर, पशु-पक्षी आदि भोग योनियों का हो या कर्मानुसार मनुष्य योनि का हो। मनुष्य योनि भोग योनि भी है और कर्म योनि भी। मनुष्य योनि में भोग भोगने में परतन्त्र और कर्म करने में मानव स्वतंत्र है। पहला शरीर छूट गया तो क्या ? किये हुये कर्मों का भोग भोगने के लिये दूसरा धारण करना होगा। इसी का नाम पुनर्जन्म है। यह हमारे संचित कर्म ही हैं जिनका फल भोगने के लिये बार-बार जन्म लेना पड़ता है। तो इस प्रकार आत्मा एक शरीर को छोड़कर दूसरे में आता है और समय आने पर उसे भी छोड़कर तीसरे और चौथे में आने जाने का तांता बनाये रखता है। आत्मा वही है केवल शरीर बदलते रहते हैं।

कर्म के सिद्धांत को दार्शनिक दृष्टिकोण से यदि किसी ने देखा है तो केवल भारतीय विचारकों ने ही। इसका एकमात्र कारण है कि भारत में पुनर्जन्म के सिद्धांत को भारतीय विचारधारा का अभिन्न अंग माना जाता है। पुनर्जन्म का सिद्धांत कर्म के सिद्धांत की ही उपज है। हमारे छः दर्शनों में से एक दर्शन मीमांसा तो केवल कर्म की ही व्याख्या है और फिर गीता भी तो कर्मयोग का ही प्रतिपादन करती है।

भौतिकवादी चिन्तकों ने दार्शनिक दृष्टि से इस विषय पर कभी कोई गंभीर चिंतन नहीं किया। उनके चिंतन का विषय मुख्यतः इस लोक से ही संबंधित रहा है। इसलिये भौतिक विचारधारा यह मानती है कि यही एक जन्म है। न इसके पीछे कोई था और न इसके आगे भी कोई दूसरा होने वाला है।

भारत में भी इस विचारधारा के चारवाक आदि हुये हैं वे भी यही कहते रहे कि 'यावद् जीवेत् सुख जीवेत्, ऋण कृत्वा घृतं पिवेत्/ भस्मी भूतस्य देहस्य पुनरागमनं कुत:'

जब तक जीओ सुख से जीओ, आवश्यकता पड़ने पर ऋण लेकर भी मौज उड़ाओ। देह के नाश हो जाने पर फिर आना जाना कैसा ?

पुनः पुनः जन्म धारण करने का एक मात्र कारण हमारे कर्म हैं। कर्म एक बन्धन का कारण है। क्योंकि कर्म एक कारण है इसका फल मिलना चाहिये। इस जन्म में मिले या अगले किसी जन्म में जब तक कर्म का फल नहीं मिल जाता यह कर्म हमारे बही-खाते में दर्ज रहेगा और जब इसका फल मिल जायेगा तभी हमारे बही-खाते से काटा जायेगा। इसलिये कर्म का फल भोगने के लिये बार-बार जन्म लेना पड़ता है इसी का नाम पुनर्जन्म यानी एक शरीर से दूसरे में आना-जाना कहाता है।

यहूदी मुस्लिम और इसाइयों का दृष्टिकोण

यहूदी मुस्लिम और विशेषत : इसाइयों का यह मत है कि आत्मा को पैदा तो परमात्मा ने किया है परन्तु वर्तमान जन्म ही आत्मा का पहला और अन्तिम जन्म है। इस एक जन्म के बाद आत्मा सदा के लिये स्वर्ग या नरक में चला जायेगा। यही एक जन्म उसके स्वर्ग या नरक में जाने का निर्णय कर देता है। कितनी अन्यायपूर्ण विचारधारा है यह? इस थोड़े से काल में कुछ अच्छे कर्म हुये और कुछ बुरे थी। मान लीजिये अच्छे अधिक हैं और उनके कारण स्वर्ग मिल गया तो जो थोड़े बुरे कर्म थे उनका क्या हुआ ? उनका फल कब और कैसे मिलेगा ? इस विचाराधारा में एक न्यूनता और भी रह जाती है। वह यह कि हम मानते हैं कि परमपिता दयालु भी है और न्यायकारी भी। वह बार-बार जन्म इस लिये देता है ताकि मानव को अपने सुधार का अवसर मिल पाये परन्तु इस विचारधारा में तो सुधार की राह ही बन्द हो जाती है। और फिर कई बच्चे पैदा होते ही अथवा बहुत छोटी आयु में मर जाते हैं। उन्होंने न तो कोई पुण्यकर्म किये और न पाप कर्म ही। इन्हें कहाँ भेजा जायेगा स्वर्ग में या नरक में ? कई लोग ऐसी परि-स्थितियों में पैदा होते हैं कि जहाँ दारिद्रय के सिवा कुछ है ही नहीं। बचपन से लेकर मृत्यु पर्यन्त कठोर परिश्रम करते रहे और फिर भी पेट भर कर दो जून का भोजन भी नहीं मिल पाया उनके लिये धर्म-कर्म के विचार का अवकाश ही कहाँ ? ऐसे में नरक स्वर्ग का निर्णय कैसे होगा ?

इस बात का भी कोई समाधान होना चाहिये कि संसार में इस तरह की विभिन्नता और विषमता क्यों नजर आती है? और फिर कर्म फल परिमित समय के लिये होना चाहिये न कि सदा के लिये और पुण्य तथा पाप से बहुत अधिक नहीं होना चाहिये। आत्मा को ईश्वर से उत्पन्न मानने का अभिप्राय है आत्मा की विशेषताएँ, इच्छाएँ, प्रवृत्तियाँ और रुचियाँ भी ईश्वर प्रदत्त ही होनी चाहिये और जीवन में आत्मा के कर्म भी उन्हीं विशेषताओं के अनुसार ही होने चाहिए। ऐसी परिस्थिति में आत्मा अपने कर्मों के लिये उत्तरदायी कैसे होगा? फिर इन कर्मों की जो उसने स्वतन्त्रता पूर्वक नहीं किये उनकी सजा देना आत्मा के प्रति क्रूरता न होगी? उपरि मत के अनुयायियों के अनुसार कि आत्मा एक ही बार जन्म में आता है, उसमें भी वह बाधित होकर कर्म करता है। कर्म करना या न करना उसके आधीन नहीं। फिर भी हैरानी की बात यह कि इन कर्मों की उसे सजा मिलती है वह भी ऐसी कठोर। दया और न्याय इस बात को कैसे सह सकते हैं?

पुनर्जन्म को मानने वालों को यह कठिनाई नहीं आती क्योंकि वे आत्मा को अनादि मानते हैं और मानते हैं कि यह आत्मा अनेक जन्मों में से गुजरता रहता है। भिन्न-भिन्न जन्मों की इच्छाएँ और विशेषताएँ पूर्व जन्मों के संस्कारों का परिणाम हैं और परिस्थितियाँ या विषमताएँ आत्मा के अतीत जन्मों के कर्मों के फल हैं, जो सर्वशक्तिमान् न्यायकारी परमात्मा देता है।

भौतिकवादी दृष्टिकोण

भौतिकवादी जो आत्मा की स्वतन्त्र सत्ता को नहीं मानते उनका कहना है कि जैसे माता पिता के संयोग से शरीर उत्पन्न होता है वैसे ही रजवीर्य के संयोग से आत्मा भी उत्पन्न हो जाता है। वे यह भी मानते हैं कि आत्मा शरीर के साथ ही पैदा होकर शरीर के साथ ही मर जाती है। यहाँ की कहानी यहीं समाप्त हो जाती है। न इसके पीछे कुछ था और न आगे के ही लिये कुछ रहता है।

तनिक विचार कीजिये कि यह सिद्धांत कितना खोखला है। माता-पिता के रजवीर्य से आत्मा की उत्पत्ति मानें तो वह माता-पिता के बिल्कुल अनुरूप ही होनी चाहिये। गेहूँ के बीज से गेहूँ ही उगता है जौ नहीं, मक्का भी नहीं। परन्तु सन्तानों में ऐसे गुण भी देखने में मिलते हैं जो

माता-पिता तो क्या उनके परिवार की कई पीढ़ियों में भी कभी देखे नहीं गये। इतिहास साक्षी है कि जान-स्टुअर्ड ने छः वर्ष की आयु में रोम का इतिहास लिखना शुरू कर दिया था। मैकाले ने ३ वर्ष की आयु में कविता लिख डाली थी। गेटे ने सात वर्ष की आयु में प्रहसन लिखना शुरू कर दिया था। अत्युत्कृष्ट प्रतिभाशाली यह बालक इतनी विशाल प्रतिभा कहाँ से लाये? माता-पिता में तो यह प्रतिभा थी नहीं। मिल्टन अन्धा था एक महान कवि बन गया। रूजवैल्ट की दोनों टांगें बेकार थीं वह अमरीका का राष्ट्रपति बन गया। क्या यह सब माता-पिता के रजवीर्य के कारण था या सामाजिक पर्यावरण के कारण हुआ? यदि माता-पिता का रजवीर्य ही कारण होता तो सभी लंगड़े और अंधे कविता किया करते। सभी टागों से अपाहिज राष्ट्रों के राष्ट्रपति होते।

वास्तविकता यह है कि प्रत्येक प्राणी जहाँ माता-पिता के रजवीर्य के कारण उनसे कुछ लेता है वहाँ वह अपना भी बहुत कुछ साथ लाता है, अपना स्वभाव लाता है, अपने संस्कार लाता है, अपना व्यक्तित्व लाता है, अपने अनुभव लाता है और लाता है पिछले जन्मों के अर्जित भोग। इसलिये हमने कहा कि देह से भिन्न आत्मा की सत्ता माननी ही पड़ती है। न केवल स्वतन्त्र सत्ता ही बल्कि माता-पिता के रजवीर्य से भी और अपने भी खजाने से बहुत कुछ अच्छी भी और कुछ बुरी भी कमाई लेकर आता है। अतः पुनर्जन्म के सिद्धान्त को माने बिना बात बनती नहीं।

आत्मा के बारे में कुछ अन्य भ्रान्तियाँ

वेदान्ती कहते हैं कि विस्तार एक ब्रह्म से ही हुआ है। उनका कहना है कि माया की उपाधि के साथ ब्रह्म ही ईश्वर के रूप में संसार की रचना करता है और जीव के रूप में वह प्राणी जगत् को बनाता है। जीवो ब्रह्मैव नापरः जीव, ब्रह्म ही है कोई दूसरा नहीं।

परन्तु यह बात वाक्जाल के अतिरिक्त और कुछ नहीं। युक्ति की कसौटी पर खरी नहीं उतरती। यह बात तो स्वतः सिद्ध है कि अंश किसी सीमित वस्तु का ही हो सकता है असीम का नहीं। यदि आत्मा की उत्पत्ति और नाश हो सकता है तो वह भौतिक होना चाहिये और अगर वह भौतिक है तो वह देह ही है। हम भलोभांति जानते हैं कि आत्मा देह नहीं है। इसके अतिरिक्त हम परमात्मा को सीमित भी नहीं मानते और फिर यह भी सत्य है कि असीम के अंश नहीं हो सकते। इसलिये

यह कहना कि आत्मा की परमात्मा से उत्पत्ति हुई है सरासर मिथ्या और भ्रान्तिपूर्ण है। आत्मा न तो प्रकृति से उत्पन्न होता है और न ही परमात्मा से उत्पन्न होना सिद्ध होता है। ऐसी अवस्था में आत्मा को प्रकृति तथा परमात्मा से भिन्न मानना ही युक्तिसंगत है तथा वेद के अनुकूल भी। 'दुर्जनतोषन्याय' से यदि यह मान भी लिया जाये कि आत्मा परमात्मा का ही अंश है तो भी यह मान्यता पुनर्जन्म के सिद्धांत के विरुद्ध तो नहीं जाती। वेदांती पुनर्जन्म को तो मानते ही हैं।

क्या आत्मा अभाव से उत्पन्न हुआ है।

यहूदी, ईसाई और मुसलमान मतावलम्बी मानते हैं कि परमात्मा ने आत्मा को अभाव से उत्पन्न किया है। विचारने की बात है कि अभाव से कोई वस्तु कैसे बन सकती है? उनका कहना कि ईश्वर सर्वशक्तिमान् है जो चाहे कर सकता है। निःसन्देह ईश्वर सर्वशक्तिमान् है परन्तु वह भी अपने नियमों में बन्धा हुआ है। और ऐसे भी कई कार्य हैं जो उन धर्मों के अनुयायी भी मानेंगे कि परमात्मा ऐसा नहीं कर सकता। जैसे ईश्वर अपने जैसा दूसरा ईश्वर उत्पन्न नहीं कर सकता। आत्म-घात भी नहीं कर सकता। इन मतों के लोग यह मानते हैं कि आत्मा है परन्तु परमात्मा के पैदा करने से पहले नहीं था। यदि नहीं था तो नहीं हो सकता और यदि था तो पहले भी था यही अटल सत्य है। 'नासतो विद्यते भावः जो असत् है वह असत् ही रहेगा, सत् कभी नहीं हो सकता। और यदि मानें कि वह पैदा किया गया है तो वह नष्ट भी होगा परन्तु मजे की बात तो यह है कि इन मतावलम्बियों का कहना है कि यह पैदा हुआ आत्मा कभी नष्ट नहीं होता। अपने-अपने कर्मों के अनुसार स्वर्ग में या नर्क में जायेगा और कयामत तक वहीं बना रहेगा। पहले तो यही बात युक्तियुक्त नहीं लगती कि आत्मा को अभाव से उत्पन्न किया गया है और पैदा होकर वह नष्ट नहीं होता। कितनी विचित्र धारणा है कि उत्पत्ति को तो वे मानते हैं परन्तु नाश को नहीं। हालांकि यह स्वयं सिद्धसिद्धान्त है कि जो वस्तु उत्पन्न होती है वह एक न एक दिन नष्ट भी अवश्य होती है। यदि यहूदी, मुस्लिम और ईसाई यह मान लें कि आत्मा पैदा नहीं होता, कहीं पीछे से चला आ रहा है और उसका नाश भी नहीं होता और आगे भी चला जाता है तो उन्हें पुनर्जन्म भी मानना पड़ जाएगा जिसे सिद्धान्तः वे नहीं मानते।

परमात्मा-आत्मा और प्रकृति

यह तीनों अनादि और अनन्त सत्ताएँ है जो न पैदा होती हैं, और न नष्ट होती हैं। यदि इसमें से कोई एक भी न हो तो सृष्टि का कारोबार ठप्प हो कर रह जावेगा। क्योंकि सृष्टि व्यक्त या अव्यक्त रूप में सदा बनी रहती ही है। इसलिये यह तीनों सदा रहते हैं, आत्मा भोक्ता के रूप में और परमात्मा नियन्ता के रूप में। यदि आत्मा न हो तो प्रकृति बेकार, किसकी भोग्या बनेगी? यदि प्रकृति ही न हो तो भोक्ता किसका भोग करेगा, बेकार बना रहेगा। इसी प्रकार यदि परमात्मा ही न हो तो इतने बड़े विश्व का नियमन कौन करेगा? आत्मा की शक्ति तो सीमित है वह इतनी बड़ी विशाल सृष्टि का नियमन करने में सर्वथा असमर्थ है। जड़वादियों का कहना है कि सृष्टि का नियमन अपने आप होता रहता है। परन्तु वे भूल जाते हैं कि नियमन होता नहीं, किया जाता है। कौन है जो चोरी करके अपने आप जेलखाने चला जायेगा अथवा चोरी का कर्म उसे स्वयं जेलखाने में पटक देगा।

सारांश

पुनर्जन्म के बारे में हम शायद कुछ अधिक ही लिख गये। भाव केवल यह था कि उद्देश्य पूरे तौर पर हृदयंगम हो जाये। आत्मा अजर है, अमर है और अविनाशी है। भोग भोगने के लिये यह चोले बदलता रहता है। इसका चोले बदलना ही इसका आना जाना कहाता है। कहाँ से आता है अर्थात् इससे पहले जन्म में कहाँ था यदि यह सब मालूम हो जाये तो कई प्रकार के व्यावहारिक झंझट खड़े हो जाने की सम्भावना हो सकती है। हम प्रायः ऐसे बच्चों के बारे में सुनते और समाचार पत्रों में पढ़ते रहते हैं जो बच्चे कुछ होश संभालने पर अपने पिछले जन्म के बारे में बहुत कुछ जानकारी देते रहते हैं और जो जाँच करने पर सत्य भी सिद्ध होती रही है। ऐसी घटनाएँ पुनर्जन्म के सिद्धान्त पर सत्य के अटूट विश्वास की एक और मोहर भी लगा देती है। परन्तु ऐसी स्थिति हर एक के लिये संभव नहीं। हाँ योगीजन योग विद्या की सहायता से अपने पिछले जन्मों का विवरण जान सकते हैं। गीता में योगीराज श्री कृष्ण अर्जुन को आत्मा के अजर और अमर होने का उपदेश देते हुये कहते हैं कि अर्जुन मेरे और तेरे अनेक जन्म हो चुके हैं जिन्हें तू नहीं जानता परन्तु मैं जानता हूँ।

बहूनि मे व्यतीतानि जन्मानि तव चार्जुन।
तान्यहं वेद सर्वाणि न त्वं वेत्थ परंतप। (गीता)

अर्जुन मेरे और तेरे अनेक जन्म हो चुके हैं। मुझमें और तुझमें अन्तर केवल इतना ही है कि मैं उन जन्मों को जानता हूँ और तू नहीं। तो मानना होगा कि आत्मा अभाव से उत्पन्न नहीं हो सकता। अभाव से तो कुछ भी पैदा नहीं होता क्योंकि 'ना सतो विधते भाव:' गीता के अनुसार जो असत् है उसकी उत्पति हो नहीं सकती और यदि आत्मा उत्पन्न नहीं हुआ तो मानना पड़ेगा कि वह मर भी नहीं सकता क्योंकि 'नाभाव: विधते सत:' जो सत है उसका अभाव नहीं हो सकता। उसका रूपान्तर तो हो सकता है और होता भी रहता है। यही आत्मा का आना और जाना कहाता है।

कितना अच्छा होता यदि आने वाला प्रत्येक बालक अपने साथ परिचय पत्र (CREDENTIAL) लेकर आता और जाने वाला भी जाने के पश्चात् कभी लौटकर यह बताने के लियें चला आता कि अब मैं अमुक स्थान पर हूँ। उर्दू के किसी कवि ने क्या सुन्दर कहा है—

आने वाला बेखबर और जाने वाला लापता

किस से पूछें मंजिले मक़सूद कितनी दूर है

किस लिये आया हूँ

मानव जीवन का उद्देश्य

मानव जीवन का एक मात्र उद्देश्य है आत्मोन्नति। आत्मोन्नति अथवा आत्म विकास की चरम सीमा का नाम है 'मोक्ष'। मोक्ष अर्थात् सब से बड़े बन्धन, मृत्यु से छूटकर अमरता को प्राप्त करना। 'मृत्योर्मां अमृतं गमय' (वृहदारण्यकोपनिषद्) हे प्रभो मुझे जन्म मरण के बन्धन से छुड़ाकर अमृत की ओर ले चलो। अमृत कहें या आनन्द कहें दोनों एकार्थवाची शब्द हैं। मुन्डोपनिषद् ने कहा 'आनन्द रूपं अमृतम्' तो छांदोग्य उपनिषद् ने कहा 'तद् ब्रह्म अमृतम्। तो वह कौन सी राह है जिस पर चलकर अपनी आत्मा का विकास किया जा सकता है?

परा और अपरा विद्या

मुण्डकोपनिषद् में दो प्रकार की विद्याओं का वर्णन आता है। एक परा विद्या और दूसरी अपरा विद्या परा वह विद्या है जिससे ब्रह्म का ज्ञान होता है और अपरा ब्रह्म से भिन्न प्रकृति विद्या का बोध कराती है। ईशोपनिषद् में परा विद्या को विद्या और अपरा को अविद्या के नाम से पुकारा गया है । ईषोपनिषद् के अनुसार दोनों का ज्ञान आवश्यक है क्योकि इन दोनों विद्याओं के समन्वय से ही अमृत की प्राप्ति हो सकती है और इनमें से कोई भी एक अकेली विद्या अंधकार में धकेल सकती है।

अन्धंतमः प्रविशन्ति ये अविद्यामुपासते ।

ततो भूप इव ते तमो य उ विद्यां रताः (ईश)

जो मनुष्य भौतिक विद्या की उपासना करते हैं वे घोर अन्धकार को प्राप्त होते हैं और जो केवल ब्रह्म विद्या में ही लीन रहते हैं वे उस से भी घोर अन्धकार को प्राप्त होते हैं।

अविद्या के उपासक प्रकृति से सुख पाने की आशा में भटकते रहे परन्तु मृगतृष्णा की भाँति निराशा ही हाथ लगी। जितना खाते गये भूख उतनी ही बढ़ती गई। राजा ययाति जीवन भर विषयों में आसक्त रहे। मृत्यु तो एक दिन आनी ही थी। उसे आया देख रोने लगे। पुत्र ने पिता को दुःखी देखकर अपनी आयु उसे दे दी। राजा नई आयु पाकर पुनः विषय भोगों में लग गये । मृत्यु एक बार पुनः आकर सिरहाने खड़ी हो गई। राजा फिर रोने लगे अबकि इस बार पौत्र ने अपनी आयु दे दी। राजा ययाति पुनः पूर्ववत् विषय भोगों में मग्न हो गये। इस प्रकार मृत्यु आती रही आयु मिलती रही परन्तु तृप्ति न हो सकती थी और न हुई। मनु जी ने भी विषय भोगों को घी के समान अग्नि को भड़काने वाले ही कहा है। इस प्रकार पर्याप्त समय बीत जाने पर ययाति को अनुभव हुआ कि मनुष्य विषयों को नहीं भोगता बल्कि विषय ही मनुष्य को भोगते हैं।

भोगा न भुक्ताः वायमेव भुक्ताः

वास्तविकता तो यह है कि प्राकृतिक सुख सीमित हैं और फिर सदा एक से रहने वाले भी नहीं। स्वाभाविकतया एक ही सुख भोगते-भोगते मानव ऊब कर कुछ उससे भिन्न और अधिक की इच्छा करने लग जाता है। परन्तु स्थिति यह है कि सुख भोक्ता में निहित है न कि भोग्य में। भोग्य तो केवल साधन मात्र है।

दूसरे वे लोग हैं जो ब्रह्म विद्या में रत हैं और ब्रह्म सत्यं जगत् मिथ्या का उद्घोष करते अघाते नहीं। परन्तु इस पांच भौतिक शरीर की भी कुछ आवश्यकताएँ हैं जो केवल मिथ्या के उद्घोष से तो पूर्ण होंगी नहीं। उन्हें पूरा करने के लिये तो कुछ करना ही होगा। रोटी, कपड़ा और मकान के साथ अस्वस्थ होने की परिस्थिति में औषध आदि की भी व्यवस्था करनी होगी। संसार को मिथ्या कह देना तो आसान है परन्तु व्यवहार में उसे निभा पाना यदि असम्भव नहीं तो अत्यन्त कठिन तो अवश्य है।

बर्कले संसार को मिथ्या मानता था। उसके एक मित्र जानसन ने तंग आकर एक दिन उसकी टांगों पर लाठी का एक प्रहार कर दिया। बर्कले चिल्ला उठा। जानसन ने कहा चिल्लाते क्यों हो मित्र! जब सारा संसार ही मिथ्या है तो तुम्हारी टांगे भी मिथ्या है और मेरी लाठी भी मिथ्या। फिर तुम्हारा 'दर्द ही कैसे सत्य हो सकता है?

भौतिक सुख सामग्री बनाने वाले कारखानों और उनमें काम करने वाले वैज्ञानिकों, इन्जीनियरों और विशेषज्ञों की कार्य कुशलता को देखकर और उनके नित नये आविष्कारों को जो समय के साथ नये-नये ढंग से चमत्कृत करने वाले भी हैं, हम उच्च कोटि के चमत्कार मानते हैं। परन्तु उपनिषद् के ऋषियों ने इसे अविद्या की संज्ञा दी है। विद्या शब्द का प्रयोग तो उन्होंने केवल आध्यात्म विद्या के लिये ही प्रयुक्त किया है। भौतिक सुख सामग्री देने वाले इस ज्ञान को अविद्या कह कर इसकी अवहेलना करना उनका अभिप्राय कदापि नहीं रहा। बल्कि उन्होंने तो इसे जीवन की परम आवश्यकता माना है। ईशोपनिषद् ने कहा अविद्यया मृत्युं तीर्त्वा विद्यया अमृतं अश्नुते'। इस अविद्या अर्थात् भौतिक उत्कर्ष के द्वारा ही मृत्यु पर विजय पाई जा सकती है। कौन नहीं जानता कि आज विज्ञान ने ऐसी-ऐसी अद्भुत जीवनदायिनी औषधियों का आविष्कार करके घोर दुःखदायिनी तथा संहारक व्याधियों पर दिग्विजय पा ली है। जबकि आज से लगभग अर्द्ध शताब्दि पूर्व क्षय रोग लगभग सौ प्रतिशत जान लेवा भयानक रोग समझा जाता था परन्तु कुछ विशिष्ट औषधियों के आविष्कार से आज इस पर पूर्णतया विजय पा ली गई है। जरा उस युग पर थोड़ा ध्यान डालें जब प्लेग और ताऊन जैसी महामारियाँ कुछ ही दिनों में ग्राम के ग्राम चट कर जाती थीं। आज उनके नामोनिशान भी नहीं मिलते। चिकित्सा विज्ञान के इन चमत्कारों से भला कौन इन्कार कर सकता है।

वैज्ञानिक जीता जागता मानव तो अभी नहीं बना पाये परन्तु अत्यन्त शक्तिशाली राबर्ट का विस्मयकारी चमत्कार भी तो वैज्ञानिक मस्तिष्क का ही कमाल है। आज हम टी वी. पर सैकड़ों मील दूर घट रही घटना को अपने शयन कक्ष में बैठे उसी प्रकार देख रहे होते हैं जैसे वह घटना हमारे सामने ही घटित हो रही हजारों हो। मील दूर बैठे बन्धुओं से फोन पर इसी प्रकार बातचीत कर रहे होते हैं जैसे आमने-सामने बैठे कर रहे हों और शायद वह दिन भी दूर नहीं जब बात करने वाले दोनों के चित्र भी फोन पर आने शुरू हो जायें।

तो इन परम उपयोगी आविष्कारों और उनकी आवश्यकताओं को अनुभव करते हुए हमारे ऋषियों ने कहा था कि 'अविद्यया मृत्यु तीर्त्वा' कि भौतिक साधनों द्वारा मृत्यु पर विजय पाई जाती है और अध्यात्म विद्या के द्वारा अमृत अर्थात् मोक्ष की प्राप्ति होती है।

यह एक बहुत बड़ा सत्य है कि आज का मानव इन भौतिक सुखों की भीड़ में खोकर रह गया है और जीवन के एकमात्र लक्ष्य को भूल सा गया है। इन आधुनिक वैज्ञानिक चमत्कारों की भूल भुलैया की समीक्षा करते हुये गोर्की ने कहा था—

We have been taught how to swim in the water like a Fish. We have been taught how to Fly in the air like a bird. But how to live on earth we don't know.

हमने पक्षियों की तरह आकाश में उड़ना भी सीख लिया और जल में मछलियों के समान तैरना भी सीख लिया परन्तु पृथ्वी पर कैसे रहा जाता है यह नहीं जानते।

क्या मानव का उद्देश्य पक्षी अथवा मछलियाँ बनने का है ? क्या आकाश में उड़ना या पानी में तैरना ही अभीष्ट है ? तो कहना होगा कि वे प्राणी हम से कहीं बेहतर हैं जिन्हें ऐसा करने के लिये न तो शिक्षा ही लेनी पड़ती है और न ही ऐसा करने के लिये उन्हें यन्त्र ही जुटाने पड़ते हैं।

याज्ञवल्क्य का मैत्रेयी को उपदेश

याज्ञवल्क्य ने जब गृहस्थाश्रम छोड़ने का निर्णय किया तो अपनी सारी चलाचल सम्पति का दोनों पत्नियों में बंटवारा कर देने की इच्छा व्यक्त की। मैत्रेयी ने अनमनी होकर पूछा यदि सारी पृथ्वी धन-धान्य से भरपूर होकर मुझे मिल जाये तो क्या मैं अमर हो जाऊँगी ? याज्ञवल्क्य

ने उत्तर दिया था कि जैसे साधन सम्पन्न व्यक्ति का जीवन होता है वैसा ही तुम्हारा भी हो जावेगा। यह सुन कर मैत्रेयी ने पुनः जानना चाहा कि जिसे लेकर मैं अमर नहीं हो सकती उसे लेकर मैं क्या करूंगी ? मुझे तो वह कुछ दीजिये जो मुझे अमर होने में सहायक हो। तब याज्ञवल्क्य ने उसे उपदेश दिया।

'आत्मा व अरे द्रष्टव्यः श्रोतव्यो मन्तव्यो निदिध्यासितव्यश्च'

आत्मा को देखो, उसका वर्णन सुनो उसका मनन करो पश्चात् उसका निदिध्यासन करो तो फिर मैत्रेयी। आत्मज्ञान के द्वारा ही तुम्हारी मनोकामना का द्वार खुल सकता है।

मनुष्य को मकान की छत पर जाने की इच्छा हो तो उसके लिये सीढ़ियों का प्रयोग अत्यन्त आवश्यक होता हैं। बिना सीढ़ियों के छत पर पहुँचा नहीं जा सकता। परन्तु छत पर पहुँचकर सीढ़ियों से चिपके रहना भी बुद्धिमत्ता नहीं। इसी प्रकार जीवात्मा की अनन्त यात्रा को सुखकर बनाने के लिये भौतिक साधनों की आवश्यकता तो है परन्तु एक-एक सीढ़ी ऊपर चढ़ते समय जैसे पिछली सीढ़ी छोड़ते जाते हैं उसी प्रकार इन नश्वर और तात्कालिक साधनों को भी धीरे-धीरे त्यागते जाना आत्मा के विकास लिये बहुत आवश्यक हैं। इन भौतिक पदार्थों को तत्वतः जान लेने के बाद ही विवेकी पुरुष आत्मवित् हो सकता है और तब वह देह और उसकी वासनाओं से मुक्त होकर आवागमन के क्रूर चक्र से छुटकारा पा सकता है। इसी बात को उपनिषद् के ऋषियों ने कहा कि अविद्या यानी भौतिक ज्ञान के द्वारा अभ्युदय को प्राप्त करो और विद्या अर्थात् आत्मज्ञान के द्वारा निःश्रेयस को प्राप्त करो। यह दोनों एक दूसरे के पूरक हैं। इनका समन्वय ही एकमात्र उपाय है।

समन्वयात्मक जीवन किसे कहते हैं और किस प्रकार यापन किया जाना चाहिये। इसके लिये हमारे धर्मग्रंथों ने जीवन के चार पुरुषार्थ बताये हैं—

धर्म, अर्थ, काम और मोक्ष

धर्म को सबसे पहले स्थान दिया क्योंकि अगले दो पुरुषार्थों में भी यदि प्रधानता धर्म की ही रहेगी तभी तो मोक्ष का अधिकार प्राप्त होगा।

तो धर्म क्या है उसका वास्तविक स्वरूप क्या है। पहले इसी का विस्तारपूर्वक वर्णन करना उचित होगा।

धर्म का वास्तविक स्वरूप

राजाभर्तृहरि ने अपने नीतिशतक में मनुष्य और पशु में भेद बताते हुये बड़ा सुन्दर श्लोक कहा है वे कहते हैं—

आहार निद्रा भय मैथुनंच
सामान्यमेतत् पशुभिः नराणाम्
धर्मो हि तेषां अधिको विशेषः
धर्मेन हीनः पशुभिः समानः ॥

मनुष्यों और पशुओं का खाना-पीना, उठना-बैठना, चलना-फिरना और बच्चे पैदा करना आदि यह सब तो एक जैसे ही हैं। परन्तु मनुष्य में केवल एक ही विशेषता है और वह है धर्म की। यदि मनुष्य धर्महीन है तो वह पशु के समान ही है।

तो यह धर्म क्या है ? जो मनुष्य को मनुष्य कहाने के योग्य बनाता है अथवा मनुष्यता का अधिकार दिलाता है।

मनु जी ने धर्म के दस लक्षण किये हैं :-

धृति क्षमा दमो अस्तेय शौचं इन्द्रियनिग्रहः ।
धीर्विद्या सत्यं अक्रोधो दशकं धर्मस्यलक्षणम् ॥

धैर्य, दण्ड देने की क्षमता होते हुये भी क्षमादान, मन को वश में रखना, मन, बचन और कर्म से चोरी अथवा दूसरे के अस्तित्व को हरण न करना, शरीर-मन और बुद्धि की पवित्रता, इन्द्रियों को वश में रखना विवेक, विद्या, सत्य व्यवहार और क्रोध न करना यह धर्म के दस लक्षण कहे हैं।

धर्म के दस लक्षण कहने के पश्चात् पता नहीं क्यों मनु जी को पुनः धर्म के चार लक्षण कहने पड़े। सम्भव है उन्होंने सोचा हो कि यह सारे लक्षण एक व्यक्ति में पाये जाने कठिन होंगे। यद्यपि हम समझते हैं कि सब गुण परस्पर एक दूसरे के पूरक हैं। मनु जी इस बात को जानते नहीं थे ऐसा हमारा कदापि भाव नहीं। उन्होंने इन लक्षणों को और अधिक सरल बनाने के हेतु दुबारा सार रूप में कहना चाहा—

वेदस्मृति सदाचारः स्वस्य च प्रिमात्मनः ।
एतद् चतुर्विधं प्राहुः साक्षात्धर्मस्य लक्षणम् ॥

अर्थात् वेदों और स्मृतियों में जो कुछ प्रतिपादित है तदानुसार आचरण धर्म है। परन्तु यहाँ कठिनाई यह कि वेद और स्मृतियों का ज्ञान हर किसी के पास तो है नहीं फिर अपने आचरण की समीक्षा कैसे

हो? तो मनुजी ने स्वस्य च प्रियं आत्मनः कहकर धर्म की बड़ी व्यावहारिक व्याख्या कर दी। मनुजी कहते हैं कि जो बात तुम्हें अपने लिये हितकर लगती है दूसरों के लिये भी वैसी ही समझो और जो तुम्हें अपने लिये अहितकर लगती है दूसरों के लिये भी वैसे ही जानों। बस इसी में धर्म का रहस्य छिपा है।

पतञ्जलि ऋषि ने योग दर्शन में यम और नियमों का वर्णन किया है जो तत्वतः मनुजी के कहे लक्षणों जैसे ही हैं।

यम तथा नियम

पांच यम हैं और पांच ही नियम हैं।

यम हैं :—अहिंसा, सत्य, अस्तेय ब्रह्मचर्य, अपरिग्रह।

और नियम हैं :—शौच, सन्तोष, तप, स्वाध्याय तथा ईश्वर प्राणिधान।

शौच यानी पवित्रता। जल से शरीर शुद्ध होता है। मन सत्य से शुद्ध होता है, बुद्धि ज्ञान से और आत्मा विद्या और तप से शुद्ध होता है।

सन्तोष :—बुद्धिपूर्वक परिश्रम और प्रयत्न करने के पश्चात् जो प्राप्त हो जाय इसी को देवेच्छा मान कर स्वीकार करना सन्तोष कहलाता है।

तप :—किसी इच्छित वस्तु की प्राप्ति के लिये जिन उचित साधनों से वह प्राप्त हो सकती है उनके आधार पर श्रद्धापूर्वक प्रयत्न करना तप कहलाता है। तप की एक पहचान यह भी है कि वह प्रयत्न चित्त को प्रसन्नता देने वाला होना चाहिये।

'तपः चित्त प्रसादनम्'

स्वाध्याय :—वेद, वेदांग तथा ऋषिकृत ग्रन्थों का पठन, पाठन, चिन्तन, मनन स्वाध्याय कहाता है। स्वाध्याय का एक अर्थ और भी है। स्व यानी अपना अध्ययन करना। अपने आप को पढ़ना, अपने द्वारा किये गये प्रत्येक कर्म का विश्लेषण, करना, कितना उचित था और कितना अनुचित। जिसे स्वयं अनुचित माना, उसमें धीरे-धीरे सुधार लाना ही वास्तविक स्वाध्याय है।

ईश्वर प्रणिधान :—ईश्वर की भक्ति अगाध श्रद्धा और विश्वास। ईश्वर जो करता है ठीक ही करता है वह दयालु है न्यायकारी है। जो हुआ और जो हो रहा है सब मेरे हित के लिये ही हो रहा है बस ऐसा मान कर कार्य की सिद्धि के लिये सतत् प्रयास करते जाना इसी का नाम ईश्वर प्राणिधान है।

इन नियमों का पालन करने वाले व्यवित का व्यक्तित्व बनता है और उसमें दिन प्रतिदिन निखार आता जाता है। परन्तु व्यक्ति व्यक्ति ही नहीं है समष्टि का अंग भी है समाज का एक घटक भी है। इस नाते उसे समाज को एक अच्छा और समृद्ध सशक्त समाज बनाने के लिये भी कुछ नियमों का पालन करना होगा क्योंकि व्यक्ति अच्छे हैं तो समाज अच्छा होगा। व्यक्ति अच्छे नहीं तो समाज अच्छा कैसे होगा ? अतः अपने विकास और एक स्वस्थ समाज का निर्माण करने के लिये जिन उपायों का सहारा लेना होता है उन्हें योग के ऋषि ने 'यम' का नाम दिया है। यम यानी नियन्त्रण में रखने वाले नियम और वे पांच यम इस प्रकार हैं—

यम :

ऋषि ने यमों को 'धर्म' शव्द का नाम न देकर इन्हें महाव्रत की संज्ञा देकर इनके महत्व को और भी बढ़ा दिया है तो पहला महाव्रत है।

अहिंसा :

हम ही जीयें, दूसरे जायें भाड़ में, अपने स्वार्थ के लिये दूसरों की बलि चढ़ा देना यह हिंसा है—अंधी प्रकृति का नियम है, कीड़ों-मकोडों का और पशु पक्षियों का नियम है—मानवता का नहीं। इसके विपरीत स्वयं भी जिये और दूसरों को भी जीने दें, बल्कि जरूरत पड़ने पर दूसरों के लिये अपने जीवन की आहुति दे देना यह अहिंसा है।

दूसरा महाव्रत है **सत्य** ! जो वस्तु जैसी है उसे वैसा ही जानना कहना और सुनना सत्य कहलाता है। मन वचन से यथार्थ को स्वीकार करके उसके अनुसार ही व्यवहार में लाना यह सत्य है। भौतिक जगत् में जो स्थान सूर्य का है आध्यात्मिक जगत् में वही स्थान सत्य का है जैसे प्रकाश का स्वरूप अपने को प्रकाशित करने का है वैसे ही सत्य हर समय अपने को प्रकाशित करने के मार्ग पर दृढ़ता से चलता रहता है। सत्यमेव जयते न अनृतम् सदा सत्य की ही जय होती है, झूठ की कभी नहीं। आत्मोन्नति के मार्ग के पथिक का यह उद्घोष अमर और अटल घोषणा है।

तीसरा महाव्रत है—**अस्तेय** :–

किसी दूसरे की वस्तु को अपने अधिकार में लाने के लिये षड़यन्त्र रचना, दूसरों के स्वत्व को हथियाने का प्रयत्न करना यह चोरी है--स्तेय है। धर्मगुरु शिष्य से दान दक्षिणा लेकर उन्हें निरा मूर्ख रखना चाहता है—यह चोरी है। किसी वस्तु का खरा पैसा लेकर खोटा माल देना या तोल में कम देना यह चोरी है। इसके विपरीत जो वस्तु तेरी है मेरी नहीं, जो मेरी नहीं उसे किस तरह तेरी बनाया जावे इसका नाम अस्तेय है। आवश्यकताओं को बढ़ाने से ही छीना झपटी चलती है अतः अस्तेय का दूसरा नाम है आवश्यकताओं को घटाना।

चौथा महाव्रत **ब्रह्मचर्य** है—

ब्रह्म का अर्थ है बड़ा, महान, विशाल और चर्य का अर्थ है चलना-गति करना। ब्रह्म होने के लिये, अल्प से महान होने के लिये विषयों के छोटे-छोटे रूपों से निकल कर आत्मतत्व के विराट् रूप में अपने को अनुभव करने के लिये चल पड़ना ब्रह्मचर्य है।

नाल्य सुखमस्ति भूमा वै सुखम्।

अल्पता में सुख नहीं महानता में ही सुख है। आत्म विकास के लिये जीवन का यह दृष्टिकोण बन जाना ब्रह्म अर्थात्-बड़ा होने से मार्ग पर चल पड़ना है यही ब्रह्मचर्य है।

ब्रह्मचर्य के इस विस्तृत अर्थ के साथ इसका एक संकुचित अर्थ भी है। जो व्यक्ति महान बनने के प्रयास में है उसके लिये इन्द्रियदमन आवश्यक है। इन्द्रियों को विषयों से हटाकर उन पर संयम करना उन्हें वश में करना उसके लिये अनिवार्य है। तो इस प्रकार ब्रह्मचर्य के दो पहलू हुये। एक विचारात्मक और दूसरा क्रियात्मक।

पांचवा महाव्रत है **अपरिग्रह** :—

परि का अर्थ है चारों ओर से और ग्रह का अर्थ है ग्रहण करना अतः परिग्रह का अर्थ हुआ किसी वस्तु को चारों ओर से कस कर पकड़े रखना और अपरिग्रह का अर्थ हुआ पकड़ को ढीला करना अथवा छोड़ देना। भौतिकवाद, भोगेश्वर्य को ही जीवन का एकमात्र लक्ष्य मानता है इसलिये वह भोग्य वस्तुओं को पकड़ कर बैंठ जाता है छोड़ने का नाम ही नहीं लेता यह परिग्रह है। इसके विपरीत भोगों को भोग कर स्वयं पीछे हट जाना अथवा आवश्यकता से अधिक को अपने पास जमा न करना यह अपरिग्रह है। हमारी वैदिक संस्कृति सुख ऐश्वर्य को भोगने से मना नहीं करती वह तो केवल यही सन्देश देती है कि भोग के साथ-साथ त्याग को भी स्मरण रखो। क्योंकि संसार का अन्मिम सत्ता भोग नहीं, भोग में से होकर त्याग की ओर जाना है।

अस्तेय और अपरिग्रह कुछ मिलते जुलते से लगते हैं परन्तु संक्षेप में यूं कह कर अन्तर देख सकते हैं कि आवश्यकता से अधिक न लेना अस्तेय है तो जरूरत के लिये जो कुछ लिया है उसे भी समय पर छोड़ देना अपरिग्रह है। परिग्रह ही बढ़ते बढ़ते स्तेय का रूप धारण कर लेता है। अस्तेय से आवश्यकताओं को घटाना शुरू करते हैं और अपरिग्रह से आवश्यकताओं को तिलांजलि देने से समाप्त करते हैं। दूसरों के स्वत्व को न छेड़ना अस्तेय है और अपने को छोड़ देना अपरिग्रह। अस्तेय का चरमलक्ष्य ही अपरिग्रह है।

योगदर्शन में कहे यम और नियमों का थोड़ा विस्तार से कहने का प्रयोजन यही है कि धर्म के व्यावहारिक रूप को जान लिया जावे। जहां तक नियमों का सम्बन्ध है, जैसा कि हमने पहले लिखा वह व्यक्ति के अपने विकास के लिये तथा अपनी आस्था को स्थिर करने के लिये हैं। परन्तु जहाँ तक यमों का सम्बन्ध है यह महाव्रत जहाँ व्यक्ति के व्यक्तित्व को निखारते हैं वहाँ स्वस्थ समाज के निर्माण का मार्ग भी प्रशस्त करते हैं। तो जीवन किस लिये है, इसका उद्देश्य क्या है? यूँ कहना चाहिये कि यह यम जीवन का समग्र दर्शन हैं।

महर्षि जयमिनि अपने मीमाँसा दर्शन में कहते हैं।

चोदना लक्षणोऽर्थः धर्मः

जो जीवनको प्रेरणा दे, जीवन यापन की दिशा दिखाये वह धर्म है। धर्म का अभिप्राय उन व्यावहारिक बातों से है जो जीवन को प्रेरणा दें उपर्युक्त अहिंसा आदि पांच महाव्रतों का समुचित रूप से पालन किया जावे तो यह जीवन को प्रेरणा देने में पूर्ण रूप से समर्थ हैं इन्हें सार्वभौम कहा गया है। इन्हीं महाव्रतों में से किसी एक का भी उल्लंघन अधर्म है। हिंसा, असत्य, स्तेय, अब्रह्मचर्य और परिग्रह इस दृष्टि से यह सब अधर्म हैं।

ऋषि कणाद भी अपने रचित ग्रन्थ वैशेषिक दर्शन में धर्म के लक्षण बताये हुये कहते हैं—

यतो अभ्युदय निः श्रेयस सिद्धि स धर्मः

जिन सत्कर्मों से अभ्युदय अर्थात् भौतिक उन्नति हो तथा मुक्ति का मार्ग प्रशस्त हो वह धर्म है। व्यावहारिक दृष्टि से महर्षि ने भी इन महाव्रतों का समर्थन किया है। इन्होंने इन्हें मुक्ति का साधन भी बताकर इनके महत्व को और भी बढ़ा दिया है।

समय समय पर और भी अनेक महापुरुषों ने धर्म के लक्षण कहे हैं जैसे वेदव्यास जी महाभारत में लिखते हैं कि 'नहि सत्यात् परो धर्मः'

सत्य से बड़ा दूसरा कोई धर्म नहीं। महात्मा बुद्ध ने अहिंसा को सब से बड़ा धर्म माना है-'अहिंसा परमो धर्मः'। सत्य तो यह है कि महापुरुषों ने समय की पुकार को सुना था और उस समय की आवश्यकता के अनुसार एक पक्षीय उद्घोष कर धर्म की प्रतिष्ठा का आह्वान किया था।

छान्दोग्य उपनिषद् में एक कथा आती है कि महर्षि नारद महर्षि सनत कुमार के पास जाते हैं और बड़े खिन्न मन से कहते हैं कि भगवन् मैंने सभी वेद, शिक्षा, कल्प, व्याकरण, निरुक्त, छन्द, ज्योतिषादि सभी विद्याओं का सम्यक् अध्ययन कर डाला परन्तु कुछ अधूरेपन का आभास है जो जाता ही नहीं। ऐसा लगता है कि जो मुझे होना चाहिये था अभी तक नहीं हुआ। और फिर स्वयं ही शंकित मन से पूछते हैं कि मेरी यह न्यूनता कहीं इस कारण से तो नहीं कि मैं अभी तक मन्त्रवित् ही हुआ हूँ आत्मवित् नहीं हो पाया? तब मुस्कराते हुये महर्षि सनत कुमार बोले-आप ठीक ही समझे महर्षिवर।

तरति शोकं आत्मवित्

आत्मवित् ही इस भवसागर से पार उतरने में समर्थ होता है। आप ने अभी तक इन विषयों की जानकारी तो प्राप्त अवश्य करली है परन्तु जीवन में पूर्णतः उतारा नहीं। इसीलिये मन अशान्त है। इसमें भी कोई सन्देह नहीं कि इच्छित विषय की जानकारी बहुत आवश्यक है। बिना जानकारी के आचरण सम्भव नहीं। इसलिये कहा 'ऋते ज्ञानात् न मुक्ति'। ज्ञान प्राप्त करने के पश्चात् आचरण करने पर धर्म बनता है।

सुकरात ने भी इस बात को बड़े स्पष्ट शब्दों में यह कर इसी आशय का समर्थन किया है। वह कहते हैं कि "मैं तो सद्गुणों को ही धर्म मानता हूँ।" सत्य शब्द के अर्थ की जानकारी सभी रखते हैं परन्तु जानकारी मात्र से कभी कोई सत्यवादी नहीं कहलाया। महाराज युधिष्ठर ने इस गुण को जीवन में धारण किया तभी वह धर्मपुत्र कहलायें।

ऐसे भी लोग हैं जो धर्म को बन्धन मानते हैं। विशेषतः पश्चिम के लोगों ने इसे सीता रेखा की तरह बन्धन माना। अतः इससे छुटकारा पाने की उनकी इच्छा भी सतत बनी रही। जंजीर भले ही सोने की ही क्यों न हो, कौन उस से बन्धना चाहेगा।

धारणात् धर्म :-

परन्तु धर्म बन्धन कदापि नहीं है। धर्म का अर्थ है जिसने हमें धारण किया है। धर्म हमारे प्राणों का स्रोत है। वृक्ष यदि यह समझे कि यह जमीन ही है जिसने मेरी जड़ों को उलझा रखा है तो यह उसका दुर्भाग्य ही होगा। क्योंकि हम जानते हैं कि यह जमीन ही है जो उसकी जीवन दायनी है, उसके प्राणों का स्रोत है उसके जीवन रक्षा के लिये उसे भोजन और पेय दे रही है। यदि जमीन उस की जड़ों को ढीला छोड़ दें तो क्या होगा—वृक्ष का अस्तित्व समाप्त हो जायेगा।

धर्म तथा फिलौस्फी

धर्म और फिलौस्फी में बहुत अन्तर है। फिलौस्फी दर्शन शास्त्र है। जिसका काम है तर्क-वितर्क करना, विषय की छानबीन करना और खोज पड़ताल करके विषय का निर्णय करना। परन्तु निर्णय के लिये निर्णायक के संस्कार, उसके कई प्रकार के पूर्वाग्रह बाधक भी तो हो सकते हैं जिन्हें वह चाह कर भी छोड़ नहीं सकता। तो फिर निर्णय कितने स्वच्छ हैं. इसका निर्णय कौन करे ? परन्तु धर्म श्रद्धा, विश्वास और आस्था का विषय है। सुकरात, अरस्तु, काण्ट, हीगल जो भी कहते हैं उनके व्यक्तिगत विचारों का परिणाम था। उनके विचारों का मिष्कर्ष था। अनुभूति नहीं केवल दृष्टिकोण था। हमारे ऋषियों मुनियों ने एक-एक विषय को लेकर जीवन भर तप किया था, उसकी ऊहापोह करके उसे अनेक परीक्षा–कसौटियों पर कसा था और सत्य सिद्धि की अनुभूति पाकर ही उसे सिद्धान्त रूप में उपस्थित किया था। उनके सिद्धान्त उनके साक्षात्कार थे।

धर्म के नाम पर झगड़ा

धर्म के नाम पर विवाद हो ही नहीं सकता। यह फिलौस्फी की देन सम्प्रदाय हैं, मत–मतान्तर है, पंथ और मजहब हैं जो परस्पर लड़ते हैं निहित स्वार्थों के कारण और बदनाम करते हैं धर्म को ! धर्म के नाम पर झगड़ा कैसा ? कौन चाहेगा कि अहिंसा, सत्य, अस्तेय, ब्रह्मचर्य, अपरिग्रह जो धर्म के अनिंद्या स्वरूप हैं इन्हें त्याग दिया जावे। बुरे से बुरा और भ्रष्टाचारी भी अपने को निर्दोष सिद्ध करने के लिये इन्हीं का ही सहारा लेता है। इसलिये हमने कहा कि धर्म सत्यादि को जीवन में लाने पर ही बनता है। यह हमारे प्राणों का स्रोत है, बन्धन का हेतु कदापि नहीं और हम इसे चाह कर भी छोड़ नहीं सकते, इससे जुदा नहीं हो सकते।

इसीलिये भर्तृहरि ने कहा था कि यह धर्म ही है जो मनुष्य को मनुष्य बनाता है। इसके बिना मनुष्य पशु के समान है।

अर्थ और काम

जीवन की सार्थकता को जानने के लिये धर्म के बाद अर्थ और काम हैं। अर्थ का सम्बन्ध है शारीरिक आवश्यकताओं से और काम का सम्बन्ध है मानसिक आवश्यकताओं यानी कामनाओं से। हमारी संस्कृति ने अर्थ और काम को भी जीवन का आवश्यक अंग माना है इसीलिये इनकी गणना जीवनके चारपुरुषार्थों में की है। परन्तु अर्थ कैसा और काम कैसा ? आज धन दौलत पैदा करने की अन्धी दौड़ लगी हुई है। अर्थ जैसे भी कमाया जा सकता है कमाया जा रहा है। आज अर्थ ही हमारे जीवन का आरम्भ और अर्थ ही जीवन का अन्त समझा जाता है। मानो आज के समाज के जीवन का यही एकमात्र दृष्टिकोण बन कर रह गया है। आज जितने भी नये-नये बाद चल रहे हैं अर्थ को ही आधार मान कर उभर रहे हैं। पूंजीवाद है, समाजवाद है अथवा साम्यवाद है यह सब अर्थवाद ही तो हैं। हमारी वैदिक संस्कृति अर्थ को जीवन का आवश्यक अंग तो मानती है परन्तु इसे सर्वांग नहीं मानती। हमारे यहाँ धर्मपूर्वक अर्थ के सम्पादन का विधान तो है परन्तु अधर्म पूर्वक अर्थ का नहीं। धर्मपूर्वक का अभिप्राय है, सच्चे, इमानदार साधनों से सम्पत्ति का उपार्जन करना, झूठे बेईमानी के अथवा ठगबाजी के साधनों से नहीं। हमारे धर्माचार्यों का विश्वास था कि धन दौलत की उतनी ही आवश्यकता होनी चाहिये जिससे खाने पीने पहनने और एक अच्छे ढंग से रहने वाले सात्विक जीवन के लिये होनी चाहिये। अधिक धन दौलत होगा तो भोग बढ़ेंगे, जीवन में विलासता आयेगी और जीवन अपने वास्तविक उद्देश्य से भटक जावेगा और फिर शुरु होगी एक अन्तहीन धनोपार्जन की दौड़।

वेदों का आदेश भी ऐसा ही है। जहाँ यह कहा गया कि 'वयंस्याम पतयो रयीणाम्' हम अपनी मनोकामनाएँ पूरी करने के लिये धन-ऐश्वर्य के स्वामी बनें, वहाँ यह भी उपदेश दिया कि "तेन् त्यक्तेन् भुञ्जीथा मा गृधः कस्यस्विद् धनम्" कि हे मनुष्य ! यह सब भोग्य पदार्थ जो तुझे उपलब्ध हैं इन्हें ईश्वर के समझ कर उनसे केवल प्रयोगाधिकार तक ही सीमित रह। उनसे ममत्व मत जोड़ और न ही दूसरे के भोगों को ललचाई दृष्टि से देख क्योंकि ममत्व ही समस्त दुःखो का कारण है।

साईं इतना दीजिओ जिसमें कुटुम्ब समाय।
मैं भी भूका न रहूँ साधु न भूका जाय॥

भक्त कबीर ने भी इसी आशय को सन्तोष का पुट देते हुये अर्थमोह से बचने की ईश्वर से प्रार्थना की है। क्योंकि प्रायः देखने में आता है कि आवश्यकता से अधिक अर्थ का होना अनर्थ का कारण बनता है।

मोक्ष—जीवन के चौथे पुरुषार्थ का नाम है—मोक्ष इसे अर्थ और काम के बाद अन्तिम स्थान दिया गया है। जीवन का आरम्भ प्रवृत्ति से होता है परन्तु विकास की दिशा निवृत्ति की ओर जाती है। इस बात को स्पष्ट करने के लिये हम यूं भी कह सकते हैं कि हमारी वैदिक संस्कृति ने धर्म, अर्थ, काम और मोक्ष इन चार पुरुषार्थों की कल्पना की थी ताकि जीवन को यथार्थता की दिशा दी जा सके। अर्थ और काम का जीवन में वही स्थान है जो प्रवृत्ति का है—भोग का है इसी को अभ्युदय कहते हैं परन्तु जीवन का अन्त निवृत्ति यानी त्याग में है। इसलिये अर्थ और काम की सार्थकता मोक्ष में है। इसी का नाम निःश्रेयस है। अभ्युदय और निःश्रेयस जीवन के दो पक्ष हैं। मोक्ष अर्थात् सब कुछ छोड़ देना, त्याग देना। मोक्ष का अर्थ यहाँ मुक्ति से नहीं है। मुक्ति का प्रश्न तो मृत्यु के पश्चात् ही उठता है। हमारे यहाँ आश्रम व्यवस्था की रचना इसी दृष्टि से की गई थी। अर्थ-काम का सम्पादन गृहस्थ-आश्रम में होता था यह अभ्युदय था। अर्थ और काम को छोड़ देना—'मोक्ष' यह वानप्रस्थ तथा सन्यास आश्रम में होता था—यह निःश्रेयम् था। इन दोनों के मेल से जीवन का व्यापक दृष्टिकोण बनता था जो जीवन का वास्तविक उद्देश्य पूरा करता था।

परमात्मा का आशीर्वाद

न अयं आत्मा बलहीनेन लभ्यः ....

बलहीन व्यक्ति ईश्वर का सानिध्य प्राप्त नहीं कर सकता ऐसा ही पाठ कठ-उपनिषद् में भी आता है।

न अयं आत्मा प्रवचनेन् लभ्यः

न आयं आत्मा प्रबचनेन लभ्यो न मेधया न बहुना श्रुतेन।
यमेवैष वृणुते तेन लभ्यस्तस्यैष आत्मा विवृणुते तनुं स्वाम्॥

परमेश्वर न तो प्रवचनों से प्राप्त होता है और न ही बुद्धिमान होने से अथवा बहुश्रुत होने से प्राप्त होता है। वह तो स्वयं जिसको छाँटकर चुन लेता है उसके लिये अपने सारे स्वरूप को प्रकाशित कर देता है। तो आवश्यकता इस बात की है कि वह योग्यता स्वयं में प्राप्त की जाये जिससे वह चुन छाँटकर स्वीकार करता है।

ऋषि की इस विलक्षण शिक्षा पर कई पाठकों को एक शंका का होना स्वाभाविक है कि जब यह चुनाव ईश्वर ने रखा ही अपने हाथ में है तो फिर किसी भी प्रकार का प्रयास, उसकी प्राप्ति के लिये करना निरर्थक होगा। परन्तु नहीं। ऋग्वेद की एक सूक्ति इस विषय पर बड़ा स्पष्ट प्रकाश डालती है। सूक्ति का कहना है कि–

'न ऋते श्रान्तस्य सख्याय'

अर्थात् यत्न करते-करते थके बिना कोई भी व्यक्ति ईश्वर की प्राप्ति नहीं कर सकता। अत: यदि प्रभु की चोन में आना है तो उसकी प्राप्ति के लिये इतना प्रयत्न करने की आवश्यकता है कि प्रयत्न करते-करते थककर गिरने की नौबत आ जाये। माँ चाहती है उसका बच्चा चलना सीखे। बच्चे को खड़ा कर के उसकी उँगली छोड़कर माँ एक कदम पीछे हटकर बच्चे को आगे बढ़ने के लिए पुचकारती है। बच्चा जूँहि एक पग उठाता है माँ एक पग और पीछे हट जाती है बच्चा दो कदम चलकर बैठ जाता है। दूसरे तीसरे दिन और फिर माँ इसी क्रम को दोहराती रहती है जब बच्चा पाँच सात कदम चलकर थक जाता है और गिरने लगता है तो माँ झट से आगे बढ़कर उठाकर छाती से लगा लेती है। बच्चा रोना भूलकर माँ के प्यार से प्रसन्न हो उठता है ठीक यही क्रम ईश्वर की प्राप्ति का है। कदम-कदम बढ़ते-बढ़ते जब ऐसा लगता है कि अब आगे एक भी कदम बढ़ा न पाऊँगा तो प्रभु की कृपा चोन के रूप में हो जाती है और तब वह स्थिति आ जाती है जब जिज्ञासु पर प्रभु की अपार कृपा का मधुर रस टपकने लग जाता है। परन्तु ......

अमृतत्व की प्राप्ति कैसे हो ?

मनुष्य के पास ज्ञानोलब्धि के दो साधन हैं। पहला है इन्द्रिय और दूसरा है आत्मा। इन्द्रियों के द्वारा जो ज्ञान प्राप्त होता है उसे बोध कहते हैं और आत्मा के द्वारा जिस ज्ञान की प्राप्ति

होती है उसे प्रतिबोध कहते हैं। इन्द्रिय शब्द के अन्तर्गत अंत:करण
और बाह्यकरण दोनों शामिल हैं। अन्त:करण मन, बुद्धि, चित्त और
अहंकार का नाम और बाह्यकरण में दस इन्द्रियाँ हैं जिनमें पाँच ज्ञानेन्द्रियाँ
(आंख, कान, नाक, त्वचा तथा रसना) और पाँच कर्मेन्द्रियाँ (हाथ,
पांव, जिह्वा तथा मूत्र पुरीष की इन्द्रियाँ) हैं। इसी प्रकार आत्मा की
दो वृत्तियाँ है। एक है बहिर्मुखी वृत्ति और दूसरी है अन्तर्मुखी वृत्ति।
आत्मा जब बाहिर जगत् में काम करना चाहता है तो उसकी बहिर्मुखी
वृत्ति काम करती है और जब अपने भीतर ही काम करता है तब
अन्तर्मुखी वृत्ति से काम लेता है। बहिर्मुखी वृत्ति का काम आत्मा
मन के माध्यम से इन्द्रियों द्वारा लेता है। यहाँ यह बात स्पष्ट करना
अवश्यक है कि आधुनिक विद्वान् अन्त करण चतुष्टय (मन, बुद्धि, चित्त
और अहंकार) को मन के ही भिन्न-भिन्न गुण मानते हुए केवल मन
शब्द का ही प्रयोग करते हैं। इस प्रकार आत्मा इन्द्रियों द्वारा
मन के माध्यम से जो ज्ञान प्राप्त करता है उसे बोध कहा जाता
है परन्तु जो ज्ञान अन्तर्मुखी वृत्ति द्वारा प्राप्त किया जाता है
वह बोध न कहाकर प्रतिबोध कहलाता है। प्रतिबोध के ज्ञान के
लिये मन के माध्यम की आवश्यकता नहीं होती। प्रतिबोध का अर्थ है वह
ज्ञान जो लौटकर आया हो। याने उलटा, इन्द्रियजन्य ज्ञान के विपरीत।
ज्ञान और प्रयत्न आत्मा के दो स्वाभाविक गुण है। इसलिये आत्मा
सतत प्रयत्नशील रहता है। सतत प्रयत्नशील का अर्थ है कि आत्मा की
दोनों वृत्तियों में से एक वृत्ति सदा काम करती रहती है। जब एक
वृत्ति रुकती है या रोकी जाती है तो दूसरी स्वयमेव चालू हो जाती है।
यन्त्र की भान्ति। जब मनुष्य सतत प्रयत्न से ध्यान योग के अभ्यास
द्वारा मन को निर्विषय कर लेता है तो बहिर्मुखी वृत्ति का कार्यक्षेत्र
आत्मा और परमात्मा होते हैं इसलिये आत्मा को ऐसी स्थिति में जो
ज्ञान अपना अथवा ईश्वर का प्राप्त हुआ करता है उसे केन उपनिषद्
ने प्रतिबोध कहा है।

प्रतिबोध विदितं मतं अमृतत्वंहि विन्दते

प्रतिबोध द्वारा प्राप्त हुआ ज्ञान निश्चय ही अमरत्व को प्राप्त होता है
और अमरत्व अर्थात् मोक्ष प्राप्ति ही मनुष्य जीवन का अन्तिम
ध्येय है।

प्रतिबोध का क्षणिक आभास तो थोड़े प्रयत्न से ही प्राय: हो जाता
है परन्तु इस अवस्था या ऐसी स्थिति को स्थाई बनाने के लिये भागीरथ

प्रयत्न की आवश्यकता होती है। योगदर्शन के महर्षि पतञ्जलि लिखते हैं कि दृढ़ भूमि बनाने के लिये सतत प्रयत्न करना होगा श्रद्धापूर्वक एक लम्बे समय के लिये, ऐसे लम्बे समय के लिये जिसकी कोई अवधि निश्चित नहीं की जा सकती है।

स तु दीर्घकाल नैरन्तर्य सत्काराऽसेवितो दृढ़ भूमिः।

कथा एक वृद्ध और एक युवक साधुओं की

कहते हैं कि एक बार नारद जी घूमते-घूमते एक ऐसे वृक्ष के पास जा पहुँचे जहाँ एक वृद्ध साधु अपने यौवनकाल से तपस्या कर रहा था। नारद जी ने कहा सुनिये महात्मा जी ! मैं ईश्वर से मिलने जा रहा हूँ कोई सन्देश हो तो कहिये। साधु महात्मा बोले, पूछिएगा कि मेरी मुक्ति कब होगी। ठीक है पूछकर जरूर बताऊँगा, नारद जी यह कहकर आगे चल दिये। कुछ दूर जाकर देखा कि एक युवक साधु भी तपस्या में लीन है। उससे भी नारदजी ने वही प्रश्न पूछा। उसने कहा, कृपया पूछियेगा कि मेरी मुक्ति कब होगी। ठीक है लौटकर अवश्य बताऊँगा, नारद जी ने कहा और आगे चल दिये। कुछ समय के पश्चात् नारद जी पुनः उधर से जाते वृद्ध साधु को मिले। उसने झट से पूछा मिल आये भगवान से ? नारद जी ने कहा हाँ और तुम्हारी बात भी पूछ आया हूँ। परमात्मा ने कहा है कि साधु महात्मा जिस वृक्ष के नीचे बैठे तपस्या कर रहे हैं उसके जितने पत्ते हैं उतने ही जन्म और तपस्या करनी होगी तब जाकर कहीं मुक्ति होगी। साधु महात्मा अपनी कम्बली जमीन पर पटक कर बौखलाये हुये से बोले यह जन्म तो खराब किया अभी इतने जन्म और खराब करने होंगे ? यह न हो सकेगा और सब कुछ वहीं फैंक कर चल दिये। अब नारद जी युवक साधु को मिलने गये। वहाँ भी उन्होंने युवक साधु के पूछने पर वही बात कही कि परमात्मा ने कहा है कि इस वृक्ष के जितने पत्ते हैं जिसके नीचे बैठे आप तपस्या कर रहे हैं उतने ही जन्म अभी और लेने होंगे और इसी प्रकार तपस्या करनी होगी तब जाकर मुक्ति प्राप्त होगी। इतनी बात सुननी थी कि युवक साधु ने नाचना शुरू कर दिया और कहा जन्मों का तो प्रश्न ही नहीं मैं तो इतना ही विश्वसित होना चाहता था कि मैं जिस राह पर चल पड़ा हूँ वह मुझे मुक्ति तक पहुँचा देगी या नहीं। अब जब मेरा मार्ग ठीक है तो फिर जन्मों की क्या चिन्ता।

तो साधक के लिये योगदर्शन के ऋषि कहते हैं कि साधना दीर्घ-काल तक निरन्तर बिना बाधा के, श्रद्धापूर्वक करने से मन की भूमि दृढ़

बनती है और यही एक मार्ग है जो अमरत्व को प्राप्त कराने वाला है। और यही बात वेद ने कही कि जन्म मरण के बन्धन से छूटकर मुक्ति को पाने का यही एक मार्ग है। 'नान्यः पन्थः विद्यते अयनाय' और और कोई दूसरा मार्ग है ही नहीं।

उपासना

उपासना का भी यही अर्थ है। परमात्मा के समीप बैठना। कई व्यक्ति शंका किया करते हैं कि जो परमात्मा सर्वव्यापक है। कण-कण में विद्यमान है। वह हम से दूर कैसे है? समीप बैठने का अर्थ है कि पहले हम उस से दूर थे और उपासना के द्वारा समीप आयेंगे। यदि ऐसा ही है तो इससे तो परमात्मा की सर्वव्यापकता में दोष आ जायेगा।

सुनने में शंका बड़ी युक्तियुक्त लगती है परन्तु ऐसा है नहीं। हम जब उपासना की बात कहते हैं तो दूरी तो स्पष्टः सिद्ध होती नजर आती है। वास्तव में दूरी तीन प्रकार की होती है।

पहली दूरी होती है स्थान की। अमृतसर से देहली ५०० किलो-मीटर दूर है। ईश्वर और हमारे मध्य ऐसी कोई दूरी नहीं। ईश्वर सर्वव्यापक है अतः हमसे दूर नहीं।

दूसरी दूरी होती है समय की। जैसे महाभारत का काल आज से लगभग ५००० वर्ष पहले था। परन्तु ईश्वर और जीव के मध्य ऐसी दूरी भी नहीं। दोनों सदा से हैं और सदा बने रहेंगे। कोई ऐसा समय न था या होगा जब ईश्वर तो होगा और जीव न होगा या जीव तो होगा परन्तु ईश्वर न होगा।

तीसरी दूरी आती है अज्ञान की। जब तक ईश्वर के स्वरूप का ज्ञान न हो ईश्वर का यथार्थ ज्ञान नहीं होगा और यह दूरी बनी रहती है। जूंहि यह ज्ञान हो जाता है दूरी समाप्त हो जाती है। वास्तव में उपासना का अर्थ इसी दूरी को दूर करना है।

ईश्वर के दर्शन कहाँ होते हैं ?

ईश्वर सर्वव्यापक है इसमें कोई सन्देह नहीं परन्तु इसके दर्शन करने वाला अथवा अनुभूति प्राप्त करने वाला आत्मा सर्व-व्यापक नहीं। वह तो एक स्थानीय है एक देशीय है। इसलिए वह यदि सर्वव्यापक को पाना चाहे तो उसे उसको अपने घर में ही ढूंढना होगा।

उस बुढ़िया की तरह नहीं जिसकी सूई तो घर पर गुम हुई थी परन्तु घर में अन्धेरा होने के कारण ढूंढ रही थी बाहर सड़क पर क्योंकि उसे वहाँ प्रकाश दिखाई दिया।

इसलिए ईश्वर को ढूंढने मन्दिरों, मस्जिदों अथवा तीर्थस्थानों पर जाने की बजाय उसे हृदय मन्दिर में खोजना होगा जहाँ खोजने वाला आत्मा सर्वव्यापक परमात्मा के अगसंग रह रहा है।

अंगुष्ठमात्रः पुरषोऽन्तरात्मा सदा जनानां हृदये सन्निविष्टः।

वह युरुष याने परमात्मा मनुष्यों के अंगुष्ठमात्र स्थान हृदय में रहने वाले आत्मा में सदा विराजमान रहता है।

अंगसंग रहते हुए भी अलगाव क्यों ?

जब जीवात्मा का मनुष्यों के हृदय के अन्दर निवास है और दोनों अंगसंग रहते हैं तो जीव को हृदय के अन्दर रहते हुये भी परमात्मा के दर्शन क्यों नहीं होते ? साथ-साथ रहते हुये भी यह अलगाव क्यों बना रहता है ?

कारण बड़ा स्पष्ट है। हम अपनी आँख की पुतली को देखना चाहें तो क्या देख पायेंगे ? पुतली भी आँख के भीतर ही है। निश्चय ही नहीं देख सकते चाहे जितना भी प्रयत्न कर लें। हाँ यदि दर्पण की सहायता लें तो अवश्य देख सकते हैं परन्तु यदि दर्पण भी मैला हो अथवा उसके ऊपर धूल जमी हुई हो या फिर किसी कारण से दर्पण एक स्थान पर स्थिर न हो हिल-जुल रहा हो तो भी हम अपनी आँख की पुतली को देख न पायेंगे। वास्तविकता तो यह है कि हमारा हृदय भी एक दर्पण के समान है। जब तक उसके ऊपर अज्ञान की धूली जमी रहेगी अथवा हमारे पापकर्मों की मैल चढ़ी रहेगी या फिर चंचलता आदि के कारण इसमें अस्थिरता बनी रहेगी दर्शन कभी नहीं हो सकते और अंग-संग रहते हुये भी अपरिचित की भांति ही बने रहेंगे।

साधना के मार्ग पर चलने के प्रत्येक इच्छुक व्यक्ति को यह जान लेना चाहिये कि इस कष्ट साध्य मार्ग पर चलने के लिये विश्वास और श्रद्धा परमावश्यक गुण हैं। मैं इस कार्य को कर सकता हूँ और करके ही रहूँगा। मैं जानता हूँ हर अच्छे कार्य को करने में वाधाएँ अवश्य उपस्थित होती हैं पर मैं उनसे जूझूँगा और अन्ततः विजयी होकर ही रहूँगा यह है वह आत्मविश्वास जो साधक के लिये अत्यन्त आवश्यक है। संसार के जितने भी महान व्यक्ति हुये उनका कार्यक्षेत्र भले ही

कोई भी रहा हो केवल अपने आत्म-विश्वास के बल पर ही महान बने।

विंस्टन चर्चिल ने द्वितीय विश्वयुद्ध में बमवर्षा से ध्वस्त हुये लन्दन नगर के एक मलबे के ढेर पर खड़े होकर देशवासियों से कहा "मैं यहाँ ध्वस्त नगर का रोना रोकर मातम मनाने नहीं आया हूँ। मैं तो इस बात का आश्वासन देने यहाँ आया हूँ कि अन्तिम विजय हमारी ही होगी भले ही हमें इस विजय श्री को प्राप्त करने के लिए अभी अपना और खून पसीना क्यों न बहाना पड़े।"

सीजर नौका में सवार नदी पार कर रहे थे। नदी में बाढ़ आई हुई थी पार जाना भी बहुत आवश्यक था। नदी के बीच तेज बहाव में नौका डगमगाने लगी। नाविक को घबराया हुआ देखकर सीजर ने बड़े सहजभाव से परन्तु आत्मविश्वास के साथ कहा, नाविक! घबराओ नहीं कुछ नहीं होगा। नौका में सीजर और उसका भाग्य सवार हैं। सीजर के इस वाक्य ने नाविक के मनोबल को भी उभारा और नौका सही सलामत किनारे जा लगी।

गीता ने इसी आशय को और भी बड़े मार्मिक ढंग से कहा है—

उद्धरेत आत्मना आत्मानं न आत्मानं अवसादयेत्।
आत्मैव हि आत्मनो बधुरात्मैव रिपुरात्मनः।

कृष्ण कहते हैं अर्जुन। मेरा यह सब उपदेश आत्मोद्धार का मार्ग है। ज्ञानी को चाहिये कि मेरे उपदेशानुसार वह स्वयं अपने आत्मा का उद्धार करे।स्वयं अपनी आत्मा को ऊँचा उठाये। कभी भी आत्महनन के मार्ग पर चलकर अपनी आत्मा का पतन न होने दें। क्योंकि आत्मा ही आत्मा का बन्धु है और आत्मा ही आत्मा का शत्रु है। जो आत्मा का उद्धार करता है वह अपनी आत्मा का बन्धु है और जो उद्धार न करके आत्म पतन के मार्ग पर चल रहा है वही अपनी आत्मा का शत्रु है। अतः आत्म विश्वास का मार्ग आत्म निर्भरता का मार्ग है। गुरु मात्र मार्ग-दर्शन करा सकता है परन्तु मंजिल तक पहुँचने के लिये तो साधक को स्वयं अपने पैरों पर खड़ा होना होता है। गुरु चलना सिखा सकता है लेकिन मंजिल तक पहुँचने के लिये चलना तो स्वयं ही होगा।

प्रत्येक मानव का जीवन एक राज्य अथवा राष्ट्र के समान है इन्द्रियाँ इसकी नागरिक अथवा प्रजा हैं। जो आत्म अथवा आत्म विश्वासी है वह इस जीवन राज्य पर विजय प्राप्त करता है और इस जीवन राष्ट्र को आत्मानुशासन में रखकर सदा विजयश्री को प्राप्त करता है।

आदर्श का चिन्तन और उसकी स्वीकृति बस यही श्रद्धा है।

साधक के लिये दूसरा गुण कहा 'श्रद्धा'। श्रद्धा यानी श्रत् सत्य धा यानी धारण करना। जिस बात को एक बार सत्य सिद्ध जान लिया उसे धारण कर लेना, अपना लेना श्रद्धा कहाती है। श्रद्धावान् लभते ज्ञानं (गीता) श्रद्धावान् ही ज्ञान को प्राप्त करता है। श्रद्धाहीन व्यक्ति का ज्ञान (यदि उसे ज्ञान कहा ही जाये) सदा संशित ही बना रहता है। और ऐसा व्यक्ति जीवन में कभी सफलता को प्राप्त नहीं कर सकता। जो संशयात्मा है, गीता में कहा है—'संशयात्मा विनश्यति'। संशित मन वाले व्यक्ति का नाश अवश्यंभावी है।

कठोपनिषद् ने तो संशयात्मा के लिये यहां तक कह दिया कि वह ईश्वर उपासना का अधिकारी ही नहीं है। यमाचार्य ने नचिकेता को उपदेश देते हुये कहा कि—

नाविरतो दुश्चरितान् नाशान्तो नासमाहितः।
नाशान्त मनसो वापि प्रज्ञानेनैनं आप्नुयात् ॥

दुश्चरित्रता मन की चंचलता, संशय, अशांति तथा तृष्णा में फंसा रहना यह सब या इनमें से कोई भी दोष जिस व्यक्ति में होता है वह ईश्वर उपासना का अधिकारी नहीं। वास्तव में यह अवस्थाएँ मन की मलिनता को ही व्यक्त करती हैं। ऐसा व्यक्ति सदा संशित रहता है और कोई काम वह पूरे मन से दत्तचित होकर नहीं कर सकता अतः वह जीवन में सदा असफल ही बना रहता है। जिज्ञासु के लिये मानसिक शांति परमाश्यक है। इसके बिना अध्यात्म जगत् में प्रवेशाधिकार पाना नितान्त असम्भव है।

अतः साधना के मार्ग पर चलने वाले व्यक्ति के लिये कहा कि पूर्ण श्रद्धा के साथ इस आध्यात्मिक जगत् में प्रवेश करे। अध्यात्मवादियों का कहना है कि श्रद्धा माँ की तरह पग-पग पर साधक की रक्षा करती है।

मानव जीवन बड़ा दुर्लभ है

कई लोगों की तो यहां तक धारणा है कि चौरासी लाख योनियां भोगने के पश्चात् मानव जीवन प्राप्त होता है। चौरासी लाख योनियां किसने गिनीं और कैसे गिनीं ? इस तर्क में न जाते हुये इतना

तो मानना ही होगा कि मानव जीवन बड़ा दुर्लभ है इसलिए कि यही एक योनी है जो कर्मयोनी भी है और भोग योनी भी। मानवेतर सभी योनियाँ भोग योनियाँ हैं। वे जन्म जमान्तर में किये हुये कर्मों का फल भोगने के लिए हैं। वहाँ न पुण्य है और न पाप केवल भोग ही भोग है। मनुष्य जीवन बड़े सौभाग्य से मिलता है और इसलिये मिलता है कि जहाँ पहले किये हुये कर्मों का भोग भोगना है वहाँ नये पुरुषार्थ द्वारा आत्मोद्धार के द्वार को भी खोलना और जीवन के एकमात्र लक्ष्य मोक्ष की ओर भी आगे बढ़ना है। आत्मोद्धार के इस द्वार को कैसे खोलना है और इसमें प्रवेश करना है यह जानने से पहले जीवन के वास्तविक स्वरूप को जानना अत्यन्त आवश्यक है। वह जीवन क्या है? कैसा है? इस विषय पर भी थोड़ा विचार कर लें।

कब तक और कैसे यहाँ रहना है ?

जीवन का वास्तविक स्वरूप

क्या है ? कैसा है ? और इसका उद्देश्य क्या है ?

पाँच तत्वों और आत्मतत्व के संघात का नाम जीवन है। यह कैसा है ? जैसे-जैसे इसके संस्कार और जैसा-जैसा इसका पुरूषार्थ है ठीक उसी के अनुसार। उद्देश्य की जानकारी के लिये हम संध्या के एक मन्त्र पर दृष्टिपात करते हैं। मन्त्र है–

ओं तच्चक्षुर्देवहितं पुरस्ताच्छुक्रमुच्चरत्। पश्येम शरदः शतं जीवेम शरदः शतं श्रुणुयाम शरदः शतं प्रब्रवाम शरदः शतं अदीनाःस्याम शरदः शतं भूयच्च शरदः शतात्॥

संध्या के इस मन्त्र में एक शब्द आया 'शुक्र'। शुक्र का अर्थ है वीर्य या बीज। बरगद के बीज में बरगद का वृक्ष और आम के बीज (गुठली) में आम का वृक्ष अव्यक्त रूप से विद्यमान है। इसी को अंग्रेजी भाषा में POTENTIALITY अर्थात् प्ररोहण शक्ति कहते हैं। बीज में बीज इसलिये कहते हैं कि उसमें वह समस्त शक्तियाँ भरी हैं। जो विकसित होने पर अपने सजातीय वृक्ष के बीज में व्यक्त हो जाती है। वेद मन्त्र कहता है कि जिस प्रकार हर वृक्ष के बीज में ईश्वर ने वृक्ष बनने की शक्ति दी है इसी प्रकार हर मुनष्य के भीतर भी बीज शक्तिहै। वह शक्ति 'देवहितम्' अर्थात् परमदेव परमात्मा के द्वारा रखी गई है। ईश्वर ने उसको 'पुरस्तात्'अर्थात् पहले से ही उच्चरित या प्रेरित किया है, अर्थात् वृक्ष में बीज पहले से ही होता है।

भाव यह हुआ कि ईश्वर किसी प्राणी को बनाता है तो उसके भीतर कुछ बीज रूपी शक्तियाँ पहले से ही रख देता है। इतना काम ईश्वर करता है। चेतन जगत् में समस्त व्योपार ईश्वर की ओर से नहीं होता। बहुत सा काम प्राणी को स्वयं करना पड़ता है।

परमात्मा ने जब मनुष्य को उत्पन्न किया तो इसमें बीज शक्तियाँ (शुक्र) रूप में दे दी। इन शक्तियों का आगे विकास करना मनुष्य का अपना धर्म है अपना पुरुषार्थ है। हाँ जड़जगत् में ऐसा नहीं है उसका सारा काम सृष्टि स्वयं करती है।

इतना जान लेने केपश्चात् साधक को मन्त्र के 'पश्येम शरदः शतम्' के भाग पर विचार करना चाहिए इसमें बताया गया है कि हम (साधक) सौ वर्ष तक देखें। देखने का अर्थ है सौ वर्ष तक ज्ञान प्राप्त करते रहें। हमारे उपास्य देव को इस मन्त्र में चक्षु अर्थात् देखने वाला कहा। वह बहुत दूरदर्शी है और दूरज्ञ भी। हम भी ज्ञान की प्राप्ति करें जिससे यह जान सकें कि हमने इस जीवन काल में किस मार्ग पर चलना है। सौ वर्ष की आयु एक मध्य अवधि मानी गई है। यह न्यूनाधिक भी हो सकती है परन्तु सौ वर्ष तक जीने और कर्त्तव्यपालन की इच्छा होनी चाहिये। न केवल इच्छा ही बल्कि इसके लिये सदा जागरूक रहकर यत्नशील भी रहना चाहिये। यह सत्य है कि हम इस संसार में आये है तो एक न एक दिन यहाँ से जायेंगे भी अवश्य। परन्तु मृत्यु जीवन का उद्देश्य नहीं। हम संसार में केवल मरने के लिये नहीं आये। सृष्टि में उत्पन्न होने का प्रयोजन जीवन है, मृत्यु नहीं। हम जब मार्किट में जाते हैं तो वहाँ जाने का एक विशेष प्रयोजन होता है। वहाँ से लौटकर घर वापस आना प्रयोजन नहीं होता हालांकि यह निश्चित ही है कि हम लौटकर घर आयेंगे ही। अतः पहलीबात जो जीवन के लिये आवश्यक है और जो वेद मन्त्र हमें बताता है वह है कि मृत्यु जीवन का उद्देश्य नहीं है।

दूसरी बात जो वेद मन्त्र हमें प्रार्थना के रूप में बताता है वह है कि 'जीवेम शरदः शतम्' अर्थात् हम सौ साल तक जीते रहें। जीने का अभिप्राय १०० वर्ष तक साँसे गिनते रहने का नहीं अपितु ज्ञानपूर्वक जीवन बताने का है। जीवन के उद्देश्य को पूरा करना ही जीवन है। खाना, पीना, सोना आदि तो मूर्ख से मूर्ख मनुष्य भी कर सकता है। इस मन्त्र में जीवेम् का अर्थ है धर्म का पालन करते हुये जीना। पशुओं और पक्षियों का जीवन जीना नहीं। एक विद्वान का

१०० वर्ष का जीवन और एक मूर्ख का जीवन एक समान नहीं। मूर्ख का जीवन एक खोटे सिक्के के समान है जिसका बाजार में कोई मूल्य नहीं। जीवन का उद्देश्य बिना ज्ञान के पूरा नहीं होता। ज्ञान भी कैसा? वह तत्व-ज्ञान जिससे यह ज्ञात हो सके कि मैं क्या हूँ? और मेरे जीवन का ध्येय क्या है?

तीसरी बात प्रार्थना के रूप में वेदमन्त्र ने हमें जो बताई वह है 'श्रृणुयाम शरदः शतम्' हम सौ साल तक सुनें। इस प्रार्थना में भी एक रहस्य है। जब पश्येम की प्रार्थना के अन्दर पाँचों इन्द्रियों का व्योपार आ चुका तो फिर श्रवणेन्द्रियों का व्योपार क्यों दोहराना पड़ा। रहस्य वह है कि यहाँ सुनने का अर्थ ध्वनियों के ग्रहण करने का नहीं यहाँ श्रृंणुयाम के पारिभाषिक अर्थ को प्रयोग में लाया गया है श्रुति का अर्थ है वेद। मनुस्मृति में धर्म के चार लक्षण बताते हैं जहाँ श्रुति और स्मृति का उल्लेख हुआ वहाँ श्रुति का अर्थ वेद कहा गया है। वेद का सुनना साधन भी है और साध्य भी। वेदके अध्ययनसे जीवन साफल्य भी मिलता है और वेद को पढ़ने से ईश्वर का सानिध्य भी प्राप्त होता है जो जीवन का एक मात्र उद्देश्य है। मनु-स्मृति ने यहाँ तक भी कहा कि जो ब्राह्मण होकर भी वेद के स्वाध्याय में अपना जीवन नहीं लगाता वह अधर्म का भागी है। चन्दन जितना घिसा जायेगा उतनी ही सुगन्धि देगा और वेद जितना पढ़ा जायेगा उतनी ही आध्यात्मिक उन्नति होगी। वेद पढ़ने से वेद न पढ़ने वाले का उत्तरदायित्व और भी अधिक बढ़ जाता है और उसका कर्त्तव्य हो जाता है कि साथ ही साथ एक और इच्छा का प्रकाशन भी करे और वही इच्छा की गई है अगली यानी चौथी प्रार्थना में वेदमन्त्र कहता है।—

'प्रब्रवाम् शरदः शतम्' अर्थात् सौ साल तक बोलते रहें। जीवन में जो ज्ञान हमने प्राप्त किया है वह दूसरों को भी बाँटते रहें। जो विद्वान् स्वयं तो वेद पढ़ता है परन्तु दूसरों को पढ़ाता नहीं वह कृपणता का दोषी है। वेद पढ़कर दूसरों को न पढ़ाना, ज्ञान पाकर दूसरों को न बांटना अथवा वेद के प्रचार में बाधक बनना महापाप है। यजुर्वेद में स्पष्ट लिखा है कि जिस वेदवाणी का मैंने तुमको उपदेश दिया है उसे संसार भर में फैला दो। जो वेद का प्रकाश दान में मिला है उसको बुझने न देना विद्वानों का कर्त्तव्य है। एक कंजूस मनुष्य जो अपनी कमाई हुई माया को न दान में व्यय करता है। और न ही भोग में लाता है वह पाप करता है परन्तु कमाये हुये धन का प्रयोग में न लाने का कंजूस को इतना पाप नहीं जितना कि विद्या पढ़ाने में कंजूसी

करने का है। मृत्यु के पश्चात् कंजूस का धन आखिर किसी न किसी के तो काम आयेगा ही परन्तु कंजूस विद्वान् की विद्या अथवा अनुभव उसकी मृत्यु के साथ ही नष्ट हो जायेंगे क्योंकि कोई भी विद्वान् विद्यार्थी या ज्ञानर्थी बिना विद्वानों की दानशीलता के ज्ञानोपार्जन नहीं कर सकता। भारतवर्ष के मध्यकालीन विद्वानों ने सबसे घार पाप यह किया कि किसो न किसो बहाने से वेंदों का प्रचार बन्द कर दिया। कितना मूर्ख है वह मनुष्य जो अपने दीपक को इसलिये छिपा लेता है कि उसके प्रकाश से कोई दूसरा लाभ न उठा सके। और कितने मूर्ख थे वे विद्वान् जिन्होंने कहा कि यदि शूद्रों के कान में वेद की ध्वनि पहुँच जावे तो उनके कानों में सीसा भरवा दो। इसो का परिणाम है कि आज न केवल शूद्र बल्कि अन्य तीनों वर्ण भी वेदों के ज्ञान से वंचित रह गये और करोड़ों ब्राह्मणों के कुल आज वेद के शब्दों से अपरिचित हैं। जब सूर्य छिप जाता है तो दिये टिमटिमाते हैं या फिर नितान्त अन्धकार हो जाता है तो ऐसे में यदि जुगनु भी सूर्य कहाने का प्रयास करें तो हैरानी की बात नहीं रहती। जब लोगों ने प्रव्रवाम का पाठ भुला दिया तो वैदिक सूर्य छिप गया और छोटे-छोटे मतमतान्तर फैल गये। आध्यात्मिकता के नाम पर अन्धकार ने संसार को घेर लिया।

कुछ बन्धु कह सकते हैं कि हममें इतनी योग्यता ही नहीं कि वेद को पढ़ सकें और फिर दूसरों को पढ़ाने का तो प्रश्न ही पैदा नहीं होता। परन्तु वेद मन्त्र स्पष्ट कहता है कि परमपिता परमात्मा ने हर मनुष्य के अन्दर बीज रूप में शक्ति रख दी है। शक्ति बढ़ाने से बढ़ती है और उपेक्षा करने से घटती है।

यदि हम उपर्युक्त चार प्रार्थनाओं को ध्यान में रखें और इसके अनुसार अपनी जीवनचर्या बनाए अर्थात् सौ वर्ष तक ज्ञान की प्राप्ति करते हुये और उस ज्ञान के फलस्वरूप १०० साल तक जीवन व्यतीत करने का यत्न करें तो निश्चय ही हम पांचवीं प्रार्थना करने के अधिकारी बन जायेंगे जो इस प्रकार है 'अदीना स्याम शरदः शतम्'। हम सौ साल तक या आयु पर्यन्त अदीन रहें। दीन का अर्थ होता है दासता और अदीन का अर्थ हुआ अदासता। वेद ने न ही स्वतंत्र शब्द का प्रयोग किया और न ही परतन्त्र शब्द का। अर्थात् न हम किसी के दास हों और न ही हम किसी को दास बनाएँ। दासता से बढ़कर कोई दूसरा अभिशाप संसार में नहीं। चाहे दरिद्रता हो चाहे रोग, दासता समस्त रोगों की जननी है। हम किसी से सम्बन्ध भी न रखें हमें किसी से क्या लेना देना भगवान् का दिया सब कुछ तो है। परन्तु यह भी महा

भूल है सृष्टि का निर्माण इस प्रकार हुआ है कि प्रत्येक व्यक्ति का जीवन एक दूसरे से सम्बद्ध है। अतः हम जगत् में सम्बन्ध विच्छेद तो कर ही नहीं सकते। मनुष्य सामाजिक प्राणी होने के नाते पूर्णतः स्वतन्त्र रह ही नहीं सकता और न ही परतन्त्र ही रह सकता है। मनुष्य तो बना है परस्पर तंत्र की भावना को उत्पन्न करने के लिये और यदि सचमुच ऐसी भावना उत्पन्न हो जाये तो दासता स्वतः ही समाप्त हो जाये। विश्व बन्धुत्व (UNIVERSAL BROTHERHOOD) तो तभी सफल हो सकती है जब हर मनुष्य समझे कि उसका जीवन दूसरों के जीवन पर आधारित है।

यजुर्वेद के चालीसवें अध्याय का प्रथम मन्त्र भी इसी आशय का उपदेश देता है। मन्त्र इस प्रकार है :—

कुर्वन्नेवेह कर्माणि जिजीविषेच्छतं समाः।
एवं त्वयि नान्यथेतोऽस्ति न कर्म लिप्यते नरे।

इस मंत्र में बड़े स्पष्ट शब्दों में उपदेश दिया गया है कि हे मनुष्य तू कर्म करता हुआ सौ वर्ष तक जीने की इच्छा कर क्योंकि इसके सिवा दूसरा कोई मार्ग है ही नहीं। हाँ शर्त यह है कि तू कर्म तो कर परन्तु उससे ममत्व मत जोड़। कर्तव्य भावना से कर्म करता जा और उससे निसंग होता जा। गीता में इसे ही निष्काम कर्म की संज्ञा दी गई है।

यूँ तो 'कर्म' क्या है की व्याख्या एक बहुत विस्तृत विषय है परन्तु थोड़े शब्दों में यदि यूँ कहा जाये कि स्वेच्छा से की गई क्रिया को कर्म कह सकते हैं। कर्ता के बिना कर्म नहीं और कर्त्ता वह है जो करने, न करने अथवाअन्यथा करने में स्वतन्त्र हो। नैत्यिक क्रिया का नाम कर्म नहीं है। मुण्डकोपनिषद् में कहा है 'वेदों में जिन कर्मों का विधान है उनका त्रेतायुग में पूर्णरूप से पालन किया जाता था। 'सच्चे मार्ग पर चलने की इच्छा रखने वाले मनुष्यो ! तुम उनका पालन करो। संसार में शुभकर्मों का मार्ग ही तुम्हारे लिये कल्यानकारी है'। इन शुभकर्मों में श्रेष्ठतम कर्म छान्दोग्य उपनिषद् के अनुसार यज्ञ ही है और यही बात शतपथ ब्राह्मण ने भी कही है 'यज्ञो वै श्रेष्ठतमं कर्म'। जिन कर्मों के करने से अभ्मुदय तथा निःश्रेयस दोनों की सिद्धि हो अर्थात् जिन कर्मो से प्राप्त अभ्युदय निःश्रेयस के मार्ग में बाधक न हो वही कर्त्तव्य कर्म है। ऐसे ही कर्मों में प्रवृत रहने की उपनिषदों में प्रेरणा की गई है।

श्री अरविन्द की मान्यता

श्री अरविन्द Essay on Superman नामक अपनी रचना में लिखते हैं "अपने आपको परमात्मा का साधन मात्र समझो। तुम्हारी स्थिति आँधी में उड़ते पत्ते, काटने वाली तलवार या अपने लक्ष्य की ओर जाते हुये तीर के समान है। तलवार यह निर्णय नहीं करती कि उसे किसको काटना है और न तीर ही अपने लक्ष्य को स्वयं निर्धारित करता है"। यदि श्री अरविन्द की इस उक्ति को ठीक मान लिया जावे तो संसार में भला बुरा जो भी हो रहा है उस सबके लिये परमेश्वर ही उत्तरदायी होगा। मनुष्य का उत्तरदायित्व तो समाप्त हो जायेगा और न ही वह कर्म करने में स्वतन्त्र रहेगा। ऐसे में सारी न्याय व्यवस्था चौपट होकर रह जावेगी। जीवात्मा परमात्माकी कठपुतली बनकर रह जावेगा। जीवात्मा सुख, दुःख, इच्छा, द्वेष, ज्ञान और प्रयत्न आदि गुणों से युक्त चेतन सत्ता है और स्वतन्त्र कर्त्ता होने के कारण अपने कर्मों के लिये पूर्णरूपेण उत्तरदायी है। जीवात्मा यदि स्वतन्त्र कर्त्ता न होता तो वह भोक्ता भी न होता। तब उसके लिये कर्मों का विधान व निषेध व्यर्थ होता। विहित कर्मों के अनुष्ठान और निषिद्ध कर्मों के परित्याग का निर्देश होने से स्पष्ट है कि जीवात्मा कर्म करने में स्वतन्त्र है।

जब मनुष्य का स्वभाव ही है कि कर्म करता रहे तब फिर उसे कर्म करने की प्रेरणा की आवश्यकता क्यों ? पानी को नीचे की ओर बहाने के लिये प्रयत्न की आवश्यकता नहीं। हाँ, ऊपर की ओर ले जाने के लिये प्रयत्न करना होता है। यह सत्य है कि मनुष्य क्षण भर भी बिना कर्म किये नहीं रह सकता। यदि स्वेच्छा से सत्कर्म नहीं करेगा तो स्वभाव से प्रेरित हो कर दुष्कर्म की और प्रवृत्त होगा। मनुष्य सत्कर्म-निष्काम कर्म में लगा रहे उसकी वृत्ति ऊर्ध्वमुखी हो इसके लिये आवश्यकता है कि वह अपने आपको स्वेच्छा से कर्त्तव्य कर्मों में लगाये रखे। जीवन सार्थक बनाने के लिये ही वेद ने यह प्रेरणा दी है कि 'कुर्वन्नेवेह कर्माणि' सत्कर्म करते हुये ही १०० वर्ष जीने की इच्छा करो।

कर्म मीमांसा

गीता ने कहा 'गहणः कर्मणों गति' कर्म की गति बड़ी गम्भीर है और सच तो यह है कि कर्म के सिद्धान्त को दर्शन सिद्धान्त मानकर यदि किसी ने चिन्तन किया है तो केवल भारतीय विचारकों ने ही।

हमारे छः दर्शनों में से एक दर्शन "मीमांसा" में तो केवल कर्म पर ही लिखा गया है और गीता का भी तो सारा लक्ष्य कर्म योग का प्रतिपादन करना ही है। पाश्चात्य विचारकों ने कभी इसे दार्शनिक ढंग से विचारा ही नहीं। अभी कल की बात है १७वीं शताब्दी, जिसे गैलीलियो और न्यूटन का युग कहते हैं, में योरोप के वैज्ञानिकों ने एक सिद्धान्त खोज निकाला जिसे उन्होंने कारण कार्य (Law of cause and effect) सिद्धान्त का नाम दिया। जिसका अभिप्राय था कि संसार किन्हीं देवी देवताओं के रहम पर नहीं बल्कि एक अटल सिद्धान्त के आधार पर चल रहा है। तारे और सितारे, चन्द्र और सूर्य भी किसी महत्वपूर्ण गुरुत्व शक्ति के नियम के आधार पर चल रहे हैं। यह भौतिक नियम अटल हैं और इसमें किसी शक्ति की स्वतन्त्र इच्छा काम नहीं करती। ऐसा नहीं कि जब चाहा सूर्य को उदय कर दिया और जब चाहा अस्त कर दिया।

सर जेम्स जीन्स (New world of modern physics) में लिखते हैं कि जब मनुष्य को कारण कार्य के सिद्धान्त का पता नहीं था तो वह समझता था कि संसार में कोई देवता है जो अपनी मरजी से जो चाहे करता है। देवता प्रसन्न हुये तो वर्षा कर दी और नाराज हुए तो सूखा डाल दिया। बड़ी देख भाल के बाद मनुष्य ने यह खोज निकाला कि संसार एक निश्चित सिद्धान्त के आधार पर चल रहा है और वह सिद्धान्त है कारण-कर्म का अटल सिद्धान्त अर्थात् कारण है तो कार्य होगा ही और यदि कार्य उपस्थित है तो इसके पीछे कारण भी अवश्य होगा। बीज है तो वृक्ष भी रहा होगा और यही बीज आगे भी वृक्ष का कारण है।

इस लिये हमने यदि यह कहा कि कर्म के सिद्धान्त को यदि किसी ने दार्शनिक ढंग से विचारा है तो केवल भारतीय मनीषा ने ही। हमारे पूर्वज इस रहस्य से भली भांति पहले ही परिचित थे तभी तो उन्होंने कहा है कि ठीक यही सिद्धान्त जब आध्यात्मिक जगत में घटित होता है तब यह कर्म का सिद्धान्त कहलाता है। भौतिकवादी दृष्टिकोण दार्शनिक ढंग से कर्म की महानता पर विचार नहीं करता। उसके विचारों की दौड़ की सीमा बस इसी जन्म तक सीमित है। उनका विश्वास है कि यही एक जन्म है न इसके पीछे कोई था और न इसके आगे ही कोई दूसरा होगा। वे मानते हैं कि अनायास मनुष्यों को जन्म मिला है और यदि अच्छे कर्म अधिक हुए हो मरने के बाद स्वर्ग (जन्नत) मिलेगा और यदि बुरे कर्म अधिक हुये तो कयामत तक दोजख (नरक) में पड़े रहेंगे।

ऐसी ही विचारधारा एक समय भारत में भी चली थी। चार्वाक का कहना था—

यावज्जीवेत् सुखं जीवेत्, ऋणं कृत्वा घृतं पिवेत्।
भस्मीभूतस्य देहस्य पुनरागमनं कुतः॥

कि खाओ पियो मौज मारो। यहाँ तककि अपने पास पैसा न भी हो तो ऋण लेकर भी मौज उड़ाओ। जब यह शरीर भस्म ही हो गया तो दोबारा लौटना कैसा?

इस विचारधारा में मुख्य दोष यह आता है कि जीवन के चार पुरुषार्थों यानी धर्म-अर्थ-काम और मोक्ष में से मुख्य दो पुरुषार्थ धर्म और मोक्ष तो समाप्त ही हो जाते हैं और केवल दो यानी अर्थ और काम ही रह जाते हैं जो धर्म के बिना मानव को स्वार्थी और कामी बना के रख देते हैं।

जगत् में कारण-कार्य का सिद्धान्त भी कर्म का ही सिद्धान्त है। जैसा यह भौतिक जगत् में अटल है वैसा ही यह आत्मा के जगत् में भी अटल है। जैसा हम कर्म करते हैं वैसा ही फल पाते हैं। कर्म कारण है तो फल कार्य है। यदि हम आग में हाथ डालेंगे तो वह जल जावेगा। आग यह नहीं सोचेगी कि हाथ जानबूझ कर डाला गया है या विवश आ पड़ा है, हाथ किसी अबोध बालक का है या युवा व्यक्ति का आग का काम है जलाना। वह जला डालेगी। सर्दी से बच्चा बिना वस्त्र पड़ा रहा प्रकृति उस पर तरस नहीं खायेगी कि छोड़ दो बेचारा अबोध है, नादान है, वह बीमार होगा ही। इसी तरह ऐसा नहीं हो सकता कि कर्म किये जाओ और फल न मिले। भौतिक तथा आध्यात्मिक जगत् में 'कारण-कार्य' तथा कर्म की आपस में यह समानता है।

परन्तु इस समानता के साथ-साथ एक असमानता भी है। हमने देखा कि 'कारण-कार्य' के सिद्धान्त में अटलपना है, परतन्त्रता है और उसके साथ चेतना न होने के कारण अन्धापन भी है। अर्थात् चेतना न होने के कारण स्वतन्त्र इच्छा नहीं है जबकि कर्म के सिद्धान्त में अटल-पना तो है परन्तु उसमें अन्धापन नहीं। चेतना होने के कारण स्वतन्त्र इच्छा (Freewill) का अभाव नहीं है। हम अपनी बात को और अधिक स्पष्ट करने के लिए एक उदाहरण देते हैं।

हम दीवार पर पत्थर फेंकते हैं। पत्थर और दीवार दोनों जड़ हैं। पत्थर दीवार से ठोकर खाकर वापस भूमि पर गिर पड़ेगा। वह दीवार से टकरा कर सोचता नहीं कि लौटूँ या न लौटूँ वह नीचे गिरेगा ही।

परन्तु वही पत्थर किसी व्यक्ति के सर को निशाना बनाकर फेंका जावे तो स्थिति दूसरी ही होगी। यदि वह व्यक्ति सचेत है तो झट से पीछे हटकर प्रहार से बच जायेगा। ऐसा क्यों होता है क्योंकि व्यक्ति में चेतना है और स्वतन्त्र इच्छा है।

तो स्पष्ट हुआ कि कारण कार्य के सिद्धान्त में और कर्म के सिद्धान्त में समानता होते हुये भी यह भेद है कि कारण-कार्य का नियम जड़ जगत् में काम करता है और कर्म का सिद्धान्त चेतन जगत् में। जड़ जगत् में ऐसी कोई सत्ता नहीं जो कारण तथा कार्य के बीच आ सके परन्तु चेतन जगत् में चेतना ऐसी शक्ति है जो कारण तथा कार्य के बीच आकर खड़ी हो जाती है। चेतन जगत् में जहाँ भाग्यवाद का बन्धन भी है वहाँ चेतन आत्मा के बीच में आ जाने के कारण बन्धन से मुक्ति भी है।

इसी बात को और भी स्पष्ट करने के लिये यूं भी कह सकते हैं कि कारण-कार्य प्रकृति का सिद्धान्त है और कर्म आत्मा का अथवा चेतना का नियम है। प्रकृति का स्वभाव ही कारण-कार्य के नियम में जकड़े रहने का है और आत्मा का स्वभाव ही बन्धन से निकलने का है।

जैसा कि हमने कहा स्वेच्छा से की गई क्रिया को कर्म कहते हैं। कर्त्ता के बिना कोई कर्म नहीं होता और वह करने न करने अथवा अन्यथा करने में स्वतन्त्र है। इस जन्म में पहली बार जो कर्म होता है वह पुरुषार्थ की श्रेणी में गिना जाता है। अच्छा या बुरा जैसा भी कर्म होगा वह तब तक नष्ट नहीं होगा जब तक कि उसका फल न भोग लिया जावे, भले ही वह फल इस जन्म में मिले अथवा अगले जन्मों में। "अवश्यमेव भोक्तव्यं कृतं कर्म शुभाशुभम्" अतः प्रत्येक कर्म बन्धन का हेतु है।

इस जन्म में तथा पिछले जन्मों में हमने अनेकों कर्म किये। जिन कर्मों का फल भोग चुके वह क्षीण हो गये परन्तु जिनका फल अभी नहीं भोगा ऐसे अनेकों कर्म होंगे इनका ठीक-ठीक फल देने अथवा लेखा जोखा रखने का कोई दफ्तर भी अवश्य होना चाहिये। कई कर्म ऐसे होते हैं जिनका फल तत्काल मिल जाता है चलो उनकी तो छुट्टी हुई परन्तु सबका फल तो यहीं नहीं मिलता। एक व्यक्ति चोरी करता है पकड़ा गया। सजा मिल गई। दूसरा व्यक्ति चोरो करता है, करता रहता है कभी पकड़ा ही नहीं गया उसका क्या होगा ?
'न भुक्तं क्षीयते कर्म'

कर्म फल प्राप्त किये बिना क्षीण नहीं होते। इसके अनुसार जब तक एक फल अच्छा या बुरा मिल नहीं जाता कर्म तब तक बना रहता है। अतः कर्मों की इस भीड़ भाड़ में कोई कर्म फलने से छूट भी सकता है यदि कोई व्यवस्था बनाये रखने का दफ्तर न हो तो।

व्यवस्था अवश्य है परन्तु कर्मों के फल का यह अभिप्राय नहीं कि एक एक कर्म को चुनकर उसका अलग-अलग फल निर्धारित किया जाता है जो भी कर्म हम करते हैं उसके संस्कार बनते जाते हैं। यही संस्कार प्रत्येक कर्म के तात्कालिक फल हैं। उदाहरणार्थः—

पानी का लोटा फर्श पर लुढ़क गया। पानी बहता-बहता दूर तक निकल गया। कुछ पानी जमीन ने सोख लिया और कुछ धूप ने सुखा दिया। दूसरी बार उसी स्थान पर पुनः पानी गिराइये। आप देखेंगे कि पानी ठीक उसी मार्ग से बह रहा है जो मार्ग पहले गिरे पानी ने बनाया था ऐसा क्यों कर हुआ ? इसीलिये कि वहाँ संस्कार पड़ चुका था। पानी के बहने की लकीर बन चुकी थी प्रत्येक वस्तु कम से कम बाधा अथवा न्यूनतम प्रतिरोध (Least Resistence) के मार्ग को चुनती है। इसीलिये जिस मार्ग पर एक बार कर्म चल चुका वह मार्ग बाधा रहित हो गया। अगली बार उस मार्ग पर चलना सरल हो गया और इस प्रकार होते होते वही मार्ग स्वाभाविक बन जाता है।

स्वभाव क्या है :- कर्मों के जोड़ का नाम है।

इस जोड़ का क्या परिणाम निकलता है ? पहली बार चोरी की या कोई अपराध किया उसे डरते-डरते झिझकते-झिझकते किया। दूसरी बार वही अपराध किया परन्तु डर अथवा झिझक कुछ कम थी। तीसरी अथवा चौथी बार वही अपराध दिलेरी से हुआ तो परिणाम यह हुआ कि चोरी करना डाके डालना आदि स्वभाव बन गया।

तो कर्म क्या करते हैं ? कर्म संस्कार बनाते हैं। जिस प्रकार एक बीज में सारा वृक्ष, तना, पत्ते, फल, फूल आदि सिमटे पड़े हैं इसी प्रकार समस्त कर्म संस्कार रूपी बीज में निहित रहते हैं। इसे यूं भी कहा जा सकता है कि जिस प्रकार १०० पैसे एक रुपये में और १०० रुपये एक नोट में और ऐसे हजारों लाखों नोट एक चैक में या ड्राफ्ट में सिमटे रहते हैं। ज्यों-ज्यों राशि बढ़ती जाती है उसका रूप सूक्ष्म होता जाता है। परमात्मा की व्यवस्था भी ऐसी ही है ज्यों-ज्यों कर्म-राशि बढ़ती जाती है उसका सूक्ष्मरूप संभाल लिया जाता है। पहले संस्कार फिर स्वभाव के रूप में।

अब प्रश्न उत्पन्न होता है वह सूक्ष्म रूप राशि संभालता कौन है ? अथवा कहाँ सुरक्षित रहती है ?

भारतीय दर्शन शास्त्र ने इस स्थूल शरीर के भीतर एक सूक्ष्म शरीर को माना है। स्थूल शरीर भौतिक है और आत्मा अभौतिक। इन दोनों के बीच माध्यम के रूप में सूक्ष्म शरीर आता है। यह इतना सूक्ष्म है कि अभौतिक के समान भी है और चूंकि यह प्रकृति के सूक्ष्मतत्वों से बना है इसलिये यह भौतिक के समान भी है। अभौतिक होने के कारण इसका आत्मा के साथ सम्बन्ध है और भौतिक होने के कारण इसका स्थूल शरीर के साथ भी सम्बन्ध है।

यह सम्बन्ध नाभि प्रदेश में होता हैं। आप ने कई बार अनुभव किया होगा कि जब कभी अचानक दुर्घटना होने लगती हैं तब पहले एकदम नाभि प्रदेश में घबराहट सी अनुभव होती है। योग में जिन सात चक्रों का वर्णन आता है वे चक्र सूक्ष्म शरीर और स्थूल शरीर को प्रयोग में लाने के स्थान हैं। आत्मा शरीर से काम लेने के लिये सूक्ष्म शरीर को कम्पन (Vibration) देता हैं।

सूक्ष्म शरीर की रचना सांख्य दर्शन के अनुसार १३ करणों (साधनों) और ५ सूक्ष्मभूत तन्मात्राओं से हुई हैं। करण (हथियार) अर्थात् साधन हैं। करण हैं ५ सूक्ष्म ज्ञानेन्द्रियाँ, ५ सूक्ष्म कर्मोन्द्रियाँ, अहंकार, मन और बुद्धि यह साधन है और औजार ५ सूक्ष्म भूत आधार हैं। इस प्रकार १८ तत्वों से यह सूक्ष्म शरीर बनता हैं। इन १८ तत्वों में से सूक्ष्म भूत आश्रय रूप हैं शेष १३ करण आश्रित हैं। क्योंकि महाभूतों को आधार बनाकर ही ज्ञानेन्द्रियाँ और कर्मेन्द्रियाँ आदि काम कर सकती हैं। सूक्ष्म शरीर जन्म के साथ आता है और सदा आत्मा के साथ रहता है जब तक कि मुक्ति नहीं हो जाती।

हमारे विचार, अनुभव, हमारे संस्कार इन सब का सार, बीज रूप में इसी सूक्ष्म शरीर में रहता हैं। अतः एक एक कर्म का फल जब तक मिलता नहीं यह हिसाब इसी खाते में निहित रहता है।

कर्म विपाक

अर्थात् कर्मों का फल मिलता कैसे हैं यह भी विचारणीय है। कर्म का सिद्धान्त जटिल होते हुये भी बड़ा सरल है। मनुष्य जैसा भी अच्छा बुरा कर्म करता हैं वैसा ही फल पाता हैं। जैसे कोई व्यक्ति बबूल का बीज बोकर आम के फल की आशा नहीं कर सकता।

मनुष्य कर्म करने में स्वतंत्र है। अच्छा करे या बुरा करे परन्तु फल भोगने में परतन्त्र हैं। फल अपनी इच्छा से नहीं मांग सकता वह तो भुगतना ही पड़ेगा। यहाँ वह पूर्ण रूपेण वन्धा हुआ है। उसे भोगना ही हैं। अपने किये कर्मों का फल भोगना उसके लिये अनिवार्य है। कुछ कर्म ऐसे रहते हैं जिनका फल जन्म जन्मान्तरों में मिलता रहता हैं।

श्री वीरेन्द्र नाथ दत्त एम.ए. वेदान्तरत्न ने एक पुस्तक 'कर्मवाद और जन्मान्तर' के नाम से लिखी हैं। उसमें उन्होंने एक कहानी लिखी हैं। उनका दावा है कि यह कहानी बिल्कुल सच्ची हैं। हम कर्मफल का भाव जानने के लिये यह कथा आपके सम्मुख वैसी की वैसी ही उपस्थित करते हैं।

महाराष्ट्र के पहाड़ी प्रदेश में एक डाकू रहता था। आते जाते लोगों को लूटना और मार डालना उसका धन्धा था। एक दिन एकव्यापारी बहुत सा धन कमा कर घर लौट रहा था कि उस डाकू के हाथ पड़ गया। अपार धन राशि तो उसने लूटी ही उसे जान से मार डालने को जब उद्यत हुआतो उसने पाँव पड़ कर जान बख्शने के लिये बहुत मिन्नते कीं परन्तु उस डाकू ने उसे मार ही डाला। जब लूटा हुआ धन लेकर घर आया तो पता नहीं क्यों उसके मन में वैराग्य का भाव उत्पन्न हो उठा। उसने तत्काल निश्चय किया कि इस धनराशि से व्यापार करूंगा और चोरी ढाके के धंधे को सदा के लिये छोड़ दूंगा व्यापार शुरू किया। ईश्वर की कृपा से खूब चल निकला। तब उसने विवाह भी कर लिया और कुछ समय के पश्चात् उसके घर पुत्र भी उत्पन्न हुआ। उसे पाकर वह बड़ा प्रसन्न हुआ। जब वह लड़का पढ़ लिखकर बड़ा हुआ तो उसका विवाह भी कर दिया और बड़ी प्रसन्नता पूर्वक जीवन व्यतीत करने लगा। दैवयोग से लड़का एक दिन वीमार हो गया। मरज वढ़ता गया ज्यूं-ज्यूं दवा की। वह किसी गंभीर व्याधि में आ घिरा। सब ओर से निराशा ही निराशा छाई थी कि पुत्र ने एक दिन प्रातः पिता को बुलाकर और अपने पास बैठाकर कहा कि हिसाब लगाकर देख लो मैंने अपना रुपया वापस ले लिया है और ब्याज में बहू की देख-रेख और पालन-पोषण करते रहना। क्या कह रहे हो पिता ने समझा बुखार में बौखला रहा है परन्तु लड़के ने व्यापारी को लूटने की बात कहकर सदा के लिये आखें बन्द कर लीं। इस प्रकार कर्म विपाक को समझाने के लिये उन्होंने एक उत्तम उदाहरण उपस्थित किया है।

कोई-कोई मनुष्य जन्म से ही अन्धे, लूले, लंगड़े अथवा पागल उत्पन्न होते हैं। इसका कारण बताते हुये श्री हीरेन्द्रनाथ दत्त लिखते हैं

कि यह उनके घोर अपराधों का विषमय फल है जो पाप वृत्ति से, प्रवंचना से प्राकृतिक विधि का उलंघन करता है, व्याधित, पीड़ित, आर्त्त, भीत या शरणागत पर अमानुषिक अत्याचार करता है अगले जन्म में उसकी ऐसी ही दुर्गति होती है।

यदि कर्म बन्धन का ही कारण है तो उनसे छूटें क्योंकर ? इस विषय पर विचार करते हुए हमारे महर्षियों का कहना है कि हम कर्म के इन बन्धनों को काटने में समर्थ ही नहीं स्वतन्त्र भी हैं। आत्मा में ज्ञातृत्व, कर्तृत्व और भोक्तृत्व यह तीन गुण स्वाभाविक हैं। इन्हीं तीनों के कारण आत्मा जब चाहे जिस क्षण चाहे मानसिक विचारों को काट कर कर्म द्वारा पड़ने वाले इन बन्धनों को काट सकता है।

बन्धनों का कारण मानसिक संवेग हैं-

मानसिक संबेगों का विश्लेषण करने से संवेग नष्ट हो जाते हैं और संवेग के नष्ट होने से दुष्कर्म नहीं होने पाता। इस प्रकार कर्म का बन्धन नहीं पड़ता। संवेगों (Emotions) पर जिन मनोवैज्ञानिकों ने गहरा अध्ययन किया है उनका कहना है कि क्रोध को देखकर क्रोध बढ़ता है और भय को देखकर भय बढ़ता है, काम को देखकर काम बढ़ता है और लालच को देखकर लालच बढ़ता है। वास्तव में संवेग का आधारभूत कारण यह है कि कोई भी संवेग क्यों न हो विचार शक्ति को क्षीण कर देता है। गीता में इन सवेगों का बड़े सुन्दर ढंग से वर्णन आता है :—

ध्यायतोविषयान् पुंसः संगस्तेषु उपजायते
संगात् संजायते कामः कामात् क्रोधोऽभिजायते।
क्रोधात् भवति संमोहः संमोहात् स्मृति विभ्रमः।
स्मृति भ्रंशात् बुद्धिनाशो बुद्धिनाशात् प्रणश्यति।

संसार के विषयों को सोचते-सोचते मनुष्य का उनके प्रति संग अर्थात् आकर्षण हो जाता है। फिर प्राप्त करने की तीव्र इच्छा पैदा हो जाती है और इच्छा पूर्ण न होने पर या उसमें विघ्न पड़ जाने पर क्रोध आने लग जाता है। क्रोध में आदमी अपने को भूल जाता है। जो वस्तु प्राप्त नहीं हो पाती उसके प्रति मोह और भी बढ़ने लग जाता है। फिर आगा पीछा कुछ नहीं सूझता, बुद्धि भ्रष्ट हो जाती है, फिर आदमी आदमी नहीं रहता उसका व्यवहार पशुओं से भी बुरा हो जाता है, अंत में जो उसके लिये विनाशकारी सिद्ध होता है।

कैसा मार्मिक और मनोवैज्ञानिक विवेचन है। बंधन में डालने वाला वही कर्म होता है जिसमें काम, क्रोध, लोभ और मोह आदि मानसिक

संवेग रहते हैं। इन संवेगों को काट दिया जावे तो कर्म के बंधन अपने आप कट जाते हैं।

विदुर जी ने महाभारत में इन्हें काटने का एक सरल मार्ग बताया है। वे कहते है :—

अक्रोधेन् जयेत् क्रोधं असाधुं साधुना जयेत्।
जयेत् कदर्यं दानेन् जयेत् सत्येन् चानृतम्॥

क्रोधी व्यक्ति को शान्त भाव से जीतो और बुरे व्यक्ति को भलाई करके जीतो। यदि कंजूस से वास्ता पडे तो दान से जीतो और यदि झूठ को जीतना हो तो उसके साथ सत्य व्यवहार करके जीतो।

एक बहुत बड़ी शंका जो प्राय: उठाई जाती है कि यदि अमीर और गरीब के बीच यह आर्थिक विषमता कर्मों का फल या भाग्य प्रदत मान लिया जावे तो इस व्यवस्था को सुधारने का यत्न करने वाला व्यक्ति क्या ईश्वरीय व्यवस्था को भंग करने का दोषो न होगा ?

पहली बात तो यह कि यह अमीर और गरीब की विषमता सामाजिक दोष है और इस सामाजिक कुव्यवस्था को ठीक करना दोष नहीं मानव धर्म है। दूसरी बात यह कि भाग्य प्रदत्त अमीरी गरीबी का मापदंड आर्थिक न होकर गुणों पर आधारित है। धन से अमीर होता हुआ व्यक्ति गुणों से गरीब देखा गया है और धन से गरीब होता हुआ व्यक्ति भी गुणों से अमीर देखने में आता है। अध्यात्मवाद का कथन है कि गुण, स्वभाव और संस्कार जन्म से आते हैं। वह पिछले जन्मों के कर्मों का परिणाम है। कुछ दरिद्र होने के बावजूद समृद्ध होने के संस्कार लेकर जन्म लेते हैं। सामाजिक कुव्यवस्था के कारण भले ही किसी से उसे भीख भी माँगनी पड़े परन्तु वह फिर भी सम्राट् की तरह ही बरतेगा और जो दरिद्र के संस्कार लेकर पैदा हुआ है वह राजा के घर जन्म लेकर भी भिखमंगों की तरह ही व्यवहार करेगा ?

दूसरी शंका

यह कि जो लोग ईमानदार हैं, सच्चे हैं और दूसरों की सेवा में रत रहते हैं वे दु:ख क्यों भोगते हैं ? और जो बेईमान हैं छली कपटी है झूठे हैं और विश्वासघाती हैं वे सुखी दिखाई देते हैं यह सब घोटाला क्यों ?

पहली बात तो यह कि बाहर से देखकर कौन दुखी है और कौन सुखी है यह जान पाना बहुत कठिन है। जिसे हम सुखी समझते हैं हो सकता है वह सुखी न हो और जिसे हम दु:खी समझते हैं हो सकता है कि वह अपने उसी हाल में मस्त हो।

दूसरी बात कर्म व्यवस्था के व्याख्याकार मनु जी कहते हैं कि कुकर्म करने वाला व्यक्ति पहले तो अवश्य फलता फूलता दिखाई देता है जीवन में आगे ही आगे बढ़ता हुआ भी दिखाई देता है। ऐसा भी लगता है कि उसके शत्रु भी परास्त हो गये हैं परन्तु वह दिन आ जाता है जब उसका समूल-नाश हो जाता है।

अधर्मेणैधते तावत् ततो भद्राणि पश्यति।
ततः सपत्नान् जयति समूलस्तु विनश्यति॥

मनु जी तो यहाँ तक भी लिखते हैं कि यह भ्रम मात्र है कि कुकर्म का फल नहीं मिला। कुकर्म की मार तो पुत्र, पौत्र और प्रपौत्र तक जाती है।

निष्काम कर्म गीता की रहस्यमय देन

युद्ध क्षेत्र में खड़ा अर्जुन संसार को असार कह कर जब अध्यात्म-वाद की बातें करने लगा और युद्ध से पलायन करने को हुआ तो श्री कृष्ण ने भी उस समय प्रकृतिवादी विचारधारा की बात न कह कर उसे अध्यात्म का उपदेश देना ही उचित समझा। अर्जुन के हृदय पर आत्मीयता की छाप लगाने के लिये श्रीकृष्ण ने उस समय उसे सखा और भक्त कह कर सम्बोधन करते हुये जिस रहस्य का उद्घाटन किया वह बिल्कुल एक नवीन विचारधारा थी। श्रीकृष्ण का कहना था कि यद्यपि यह एक नवीन विचारधारा है परन्तु ऐसा भी नहीं कि इससे पहले इसे कोई जानता ही नहीं था। सबसे पहले इसे विस्वान ने जाना। विस्वान ने मनु को दीक्षित किया और मनु ने इक्ष्वाकू को और इस तरह गुरु परम्परा से यह विचार धारा आगे बढ़ती रही। वैदिक संस्कृति के इस रहस्य को बीच में लोग भूल गये और इसी का परिणाम था कि जीवन के वास्तविक पथ से विचलित हो गये। तू तो मेरा सखा है और भक्त भी इसलिये मैं तुम्हें इस रहस्य से दीक्षित करता हूँ।

रहस्य है 'योगमार्ग' का। योगमार्ग को समझने के लिये इससे विभिन्न सांख्य मार्ग का भी वर्णन किया।

लोकेअस्मिन द्विविधा निष्ठा पुराप्रोक्ता मयानध।
ज्ञान योगेन् सांख्याना कर्मयोगेन् योगिनाम्॥

अर्थात् संसार में दो ही मार्ग हैं एक ज्ञान मार्ग और दूसरा कर्ममार्ग। ज्ञानमार्ग को सांख्य मार्ग और कर्ममार्ग को योग मार्ग भी

कहा है। ऐसा नहीं कि श्रीकृष्ण के ही समय में जीवन यापन के लिये यह मार्ग कहे थे आज के लिये भी उतने ही उपादेय हैं। जब तक यहाँ रहना है इन्हीं मार्गों को अपनाकर अपना विकास किया जा सकता है।

श्रीकृष्ण का रहस्यवाद यह था कि इन दोनों मार्गों में से कर्म का मार्ग ही श्रेष्ठ है सांख्य मार्ग नहीं। क्योंकि सांख्य मार्ग कर्म संयास का उपदेश देते हैं और संसार को असार बताकर कर्म का त्याग करने को प्रेग्ति करते हैं। उनका कहना था कि जब कुछ करेंगे ही नहीं तो दुःख क्यों होगा ? अर्जुन को कहा जा रहा था कि लड़ो और शत्रु पर विजय प्राप्त कर राज्य करो। अर्जुन का कहना था कि संसार निःसार है। जो कल हमारे भाई थे आज शत्रु बनकर खड़े हो गये हैं मैं इस संसार को पाकर क्या करूंगा ? अर्जुन को सांख्य मार्ग पर अग्रसर होते देख कर श्रीकृष्ण ने योगमार्ग का सहारा लिया। उन्होंने कहा कि कर्म को तो हम छोड़ ही नहीं सकते, कर्म करना तो हमारी प्रकृति में है। हम चाहे या अनचाहे जब संसार में आ ही पड़े हैं तो कर्म-किये बिना कैसे रह सकते हैं? संसार यथार्थ हो, मिथ्याहो, जगत् सत्य हो असत्य हो, जब हम चारों ओर से संसार से घिरे पड़े हैं तब कैसे सम्भव है कि इसे बिल्कुल मिथ्या समझकर या मान कर काम धंधा छोड़कर बैठ जायें।

सत्य तो यह है कि यह समस्या अर्जुन की ही नहीं बल्कि हर उस मनुष्य की है जो जीवन कैसे जीया जाये के रहस्य को उघाड़ना चाहता है। श्रीकृष्ण ने कहा है कि कर्म नहीं कर्म के फल की आशा को छोड़ो, कर्म को निष्काम भाव से करो, कर्त्तव्व जान कर करते जाओ।

गीता यह भी पूछती है सांख्यवादियों से कि कर्म क्यों न करें, संसार से नाता क्यों तोड़ लें ? क्या इसलिये कि मनुष्य संसार में लिप्त हो जाता है, कर्म मनुष्य को बांध लेता है। यदि यही बात है तो ऐसा क्यों न किया जावे जिससे कर्म तो करते रहें (क्योंकि इन्हें छोड़ ही नहीं सकते) परन्तु कर्म से पैदा होने वाला बंधन न पड़ने दें। गीता ने जिस रहस्यमयी वैदिक संस्कृति का वर्णन किया है उसका बीज मंत्र यही है कि "संसार में रहो परन्तु भोक्ता बनकर भोग्य बन कर नहीं। जीवनके चरखे पर कर्त्तव्य रूपी पूनी से कर्म का सूत कातते जाओ परन्तु उसमें गांठ मत पड़ने दो।" इसी का नाम निष्कामकर्म है और इसे ही गीता ने "कर्मयोग" कहा है।

परन्तु क्या यह सम्भव है कि हम संसार में तो रहें और उसमें लिप्त न हों। कर्म तो करें परन्तु कर्म का बन्धन न पड़ने दें। वैदिक

संस्कृति का कहना है कि संभव ही नहीं, जीवन का एक मात्र विज्ञान सम्मत मार्ग है।

१. कर्मण्येवाधिकारस्ते मा फलेषु कदाचन।
   मा कर्म फल हेतु र्भूर्मा ते संगोऽस्तु अकर्मणि: ॥

२. योगस्थ कुरु कर्माणि संगं त्यक्त्वा धनंजय:
   सिद्धयासिद्धयो: समो भूत्वा समत्वं योगमुच्यते ॥

३ विहाय कामान य: सर्वान् पुमांश्चरति नि:स्पृह:।
   निर्ममो निरहंकार: स शान्तिं अधिगच्छति ॥

कर्म तो करो परन्तु फल की इच्छा न करो। कर्म फल की कौन आशा नहीं करता? हर कोई करता है। यही आशा करना संग कहलाता है। सकाम भाव कहलाता है तो इस आशा को त्याग देना ही नि:संग कर्म है। हे अर्जुन! तू कर्म कर परन्तु नि:संग होकर, निष्काम होकर, निर्लिप्त होकर बस यही योग मार्ग है परिणाम यह होगा कि सफलता हो असफलता हो सिद्धि हो असिद्धि हो तुझ में समता बनी रहेगी और यह समता ही शान्ति का राज है।

कर्म करते हुये उसके फल की आशा न करना कहने में तो बड़ा सरल है परन्तु अपने भीतर फल की आशा न करने की भावना को, अनासक्ति को जन्म दे सकें? इसका उत्तर देते हुये गीता कहती है कि जो लोग जीवन को यज्ञमय बना लेते हैं वे अपने आप निष्काम कर्म करने लग जाते हैं।

जीवन को यज्ञ समझ कर चलो

यज्ञ का अभिप्राय है अपने स्वार्थ की भावना को छोड़ देना। यज्ञ करते हुये मनुष्य अपने को परमात्मा की महान शक्ति के सहारे छोड़ देता है। मैं कुछ नहीं प्रभो! यह सब तेरा ही है "इदं न मम्" यही भावना यज्ञ की आधारभूत है। यदि यही भावना जीवन के प्रत्येक कर्म में अनु-प्राणित हो जाये तो प्रत्येक कर्म यज्ञ बन जाता है। जीवन ही यज्ञमय हो हो जाता है। यज्ञमय जीवन, नि:स्वार्थ जीवन बिताने वाले को गीता में 'आतमरत' 'आत्मतृप्त' अथवा आत्म संतुष्ट' कहा है अपने में रमा हुआ आत्मा में भरा हुआ अपने में संतुष्ट।

फल की आशा क्यों न करें? क्या केवल इसलिये कि अनुकूल फल नहीं मिलेगा तो दु:ख होगा? और दु:ख से बचने के लिये फल की आशा

ही न करें। क्या यह कायरता नहीं होगी ? अवश्य इसका कोई दार्शनिक आधार होना चाहिए और अवश्य है। फल की आशा न करने का अर्थ हरगिज यह नहीं कि कर्म का फल मिलेगा ही नहीं वह तो मिलेगा ही। आशय केवल यह है कि चूंकि फल की अनुकूलता प्रतिकूलता पर मनुष्य सुखी दुःखी होता है और फल अपने हाथ में है नहीं। फिर जो चीज अपने हाथ में है नहीं क्यों उसके लिये दुःखी हों और सुखी हों क्यों उसके साथ अपना नाता जोड़े रखें ?

किसी कर्म का फल उत्पन्न होने में एक कारण नहीं अनेक कारण हो सकते हैं। संसार बडा विशाल है और फिर इस विशाल विश्व में हमीं तो नहीं अरबों खरबों प्राणी हैं। सभी को सम्मुख रखकर विश्व का संचालन करने वाला समन्वयात्मक दृष्टि से संचालन कर रहा है। फल का देना तो उसी के बस की बात है जिसके बही खाते में हम सबका हिसाब किताब है। ऐसी अवस्था में वैज्ञानिक दृष्टि से सम्भव यही रह जाता है कि अपना कार्य करते जावें और 'इदं न मम्' कह कर फल को विश्वात्मा के चरणों में अर्पण करते जायें। हम अपनी संकुचित दृष्टि से न देखकर विश्वात्मा की विशाल दृष्टि से देखें।

वैदिक विचार धारा में जीवन यापन का गुर यही है कि "कर्म करो और फल की तरफ से चुप रहो' तो शंका उत्पन्न होती है कि जब 'कारण-कार्य' का नियम अटल है तो इस उपदेश की आवश्यकता ही क्या है ?

परन्तु यदि गहराई से विचार किया जाये तो संसार के सामने निष्काम कर्म के अलावा दूसरा कोई वैज्ञानिक सिद्धान्त है ही नहीं। कारण कि जब कारण कार्य के नियम की दुहाई देकर फल की आशा करते हैं तो सच यह है कि हम फल चाहते हैं और वह भी अपनी इच्छा के अनुसार अर्थात् हम इच्छित फल की ही कामना करते हैं। परन्तु ऐसा आवश्यक नहीं कि सदा हमारी इच्छा के अनुसार ही फल मिले। क्योंकि कर्म का व्यक्ति से और फल का समष्टि से संबंध होता है। कर्म एक व्यक्ति करता है और फल में समष्टि भागीदारी बन जाता है।

फलदार वृक्ष माली लगाता है और फल अनेक व्यक्ति खाते हैं। कर्म तो माली ने किया था फल बहुतों ने भोगा। एक व्यक्ति अग्नि कुंड में एक दो मिर्चें डाल देता है जलने पर सारा का सारा मुहल्ला खाँसने लग जाता है। तो संकुचित अथवा स्वार्थमयी दृष्टि से विचार न करके यदि विस्तृत दृष्टि से देखा जाये तो निष्काम कर्म का सिद्धान्त के नियम

का खण्डन नहीं करता बल्कि कर्म करते हुये अपने इच्छित फल की आशा करने के कारण जो इस सिद्धान्त में कचाई रह गई थी वह दूर करने में पूरक सिद्ध होता है।

निष्काम कर्म और सकाम कर्म में जो मनोवैज्ञानिक भेद है उसे समझ लेने से बात और स्पष्ट हो जाती है। जो व्यक्ति कर्म करता है और भगवान को अर्पण करता रहता है उसकी आकांक्षाएं सीमित हो जाती हैं और आवश्यकताएं भी कम हो जाती हैं मन उसका शांत और थोड़े में ही संतुष्ट हो जाने वाला हो जाता है। परन्तु उसके विपरीत सकाम कर्म की आकांक्षाएं असीम होती जाती हैं और बहुत प्राप्त हो जाने पर भी मन में और प्राप्त करने की लालसा सदा बनी रहती है और इस प्रकार अपने मन में एक प्रकार का असंतोष सा और बेचैनी सी महसूस करता रहता है। अतः ऐसा व्यक्ति जिसकी कामनाओं का अन्त नहीं सदा गरीब बना रहता है भले ही वह अनन्त धन राशि का मालिक क्यों न हो और जिसकी कामनाएं सीमा मे बंधी हैं भले ही उसकी जेब में दस पैसे भी न हों वह अमीर है। निष्कर्ष यह है कि निष्काम कर्म दिल की अमीरी है और सकाम कर्म दिल की गरीबी का नाम है।

तो निष्काम कर्म के बारे में दो तथ्य सामने आये। प्रथम यह कि निष्काम कर्म ही जीवन का वैज्ञानिक दृष्टिकोण है और दूसरे यह कि मनुष्य कर्म करने में तो स्वतंत्र है परन्तु फल भोगने में परतंत्र ही है। तो क्यों न कर्म करने के पश्चात् वह कर्मों का फल जोड़ने वाली सत्ता के प्रति अपने को पूर्ण रूप से समर्पित कर दें। यह आत्म-समर्पण का मार्ग है। इसी को कहते हैं मेरी नहीं भगवन् ! तेरी इच्छा पूर्ण हो।

श्री तिलक महाराज अपनी अमरकृति गीता रहस्य में लिखते हैं कि अपने लाभ के सिवा जिन्हें इस संसार में कुछ दूसरा नहीं दाख पड़ता और जो लोग फल की ही इच्छा से काम करते हैं उन्हें सचमुच फलाशा छोड़कर काम करना सम्भव नहीं लगता परन्तु जिनकी बुद्धि ज्ञान से सम और विरक्त हो गई है उनके लिए कुछ कठिन नहीं। पहले तो यह समझना ही गलत है कि किसी काम का जो फल मिलता है वह हमारे ही कर्म का फल है यदि पानी और ऊर्जा (अग्नि) की सहायता न मिले तो मनुष्य कितना ही सिर क्यों न पटक ले उसके प्रयत्नों से खाना नहीं बन सकता। प्रयत्नों से उसे जो मिला है वह केवल उसके प्रयत्नों का फल नहीं वरन् उसके कार्य तथा सृष्टि के तदनुकूल अनेक स्वयं सिद्ध कार्य इन दोनों के संयोग का फल है।

श्री अरविन्द का कहना है कि गीता मानव को मानवधर्म के लिये नहीं दिव्य कर्म के लिये प्रेरणा करती है। दिव्य कर्म क्या है इसका प्रतिपादन करते हुये वे कहते हैं कि इस विश्व का नियंत्रण मनुष्य नहीं कर रहा है भगवान कर रहा है। उस दिव्य व्यक्ति का विश्व के संचालन में जो उद्देश्य है उस उद्देश्य को पूर्ण करने में शक्ति लगा देना ही दिव्यकर्म है। जब मनुष्य दिव्य कर्म करने लग जाता है तब मानो स्वयं कर्म नहीं कर रहा होता मनुष्य तो माध्यम बनाकर भगवान ही कर्म कर रहा होता है।

श्री अरविन्द के दिव्य कार्म का तात्पर्य यही है कि हम में से जिसके हृदय में भी दिव्य चेतना जागृत हो जाये उसका कर्म मानव कर्त्तव्य या सामाजिक व्यवहार के लिये अपने को न्यौछावर कर देना ही है। उनका कहना है कि ऐसे ही संघर्ष में से बुद्ध दयानन्द, रामकृष्ण परमहंस, विवेकानन्द, रामतीर्थ, गांधी आदि गुजरे और उन्होंने मानव धर्म की अपेक्षा दिव्यधर्म को प्रधानता दी।

ओ३म् नाम की महिमा

मानव जीवन के इस रहस्य को जानने के पश्चात् श्रद्धावान् और आत्मविश्वासी साधक को क्या करना चाहिये, जिससे कि उसका आगेका मार्ग प्रशस्त हो? जिज्ञासु और साधक में इतना ही अंतर है कि जिज्ञासु शंका समाधान से वास्तविक जानकारी पाना चाहता है और साधक अध्यात्मवाद को जान कर और तर्क से ऊपर उठ कर इसे अनुभूति और साक्षात्कार का विषय मान कर दृढ़ताके साथ अगले पड़ाव की ओर चल देना चाहता है और अपेक्षा करता है कि किसी ऐसे अनुभवी गुरु की, जो उसे उपास्य की प्राप्ति के मार्ग पर अग्रसर कराये। नचिकेता का हठ भी तो यही था कि जो यमाचार्य के अनेक प्रलोभनों की परवाह न करते हुये भी अपने लक्ष्य की प्राप्ति के लिये अडिग रहा। सम्भत: यमाचार्य भी युवक की जिज्ञासा की परीक्षा कर रहे थे उसे उत्तीर्ण पाकर उन्होंने उसे ओ३म् नाम की महीमा का इस प्रकार वर्णन करते हुये उसका निर्दिष्ट दिशा की ओर मार्गदर्शन किया।

सर्वे वेदा यत्पदमामनन्ति
तपांसि सर्वाणि च यद् वदन्ति
यदिच्छन्तो ब्रह्मचर्यं चरन्ति
तत्ते पदं संग्रहेणब्रवीमि ओमित्येतत्

चारों वेद जिसका वर्णन करते हैं जिस पद की इच्छा करते हुये ब्रह्मचारी व्रतों और नियमों का आचरण करते हैं वह पद क्या है यदि मैं संक्षेप में तुम्हें कहूँ तो वह 'ओ३म्' है। पुनः ओ३म् की महिमा का वर्णन करते हुये कहा ?

एतदेव अक्षरं ब्रह्म एतदेव अक्षरं परम
एतदेव अक्षरं ज्ञात्वा यो यद् इच्छति तस्यतत्।

नचिकेता ! निश्चित जानों यह 'ओ३म्' ही कभी नाश न होने वाला ब्रह्म है। इस अविनाशी ब्रह्म को जानकर कोई जिस विषय को पाना चाहता है उसे वह प्राप्त हो जाता है। अतः

एतदालम्बनं श्रेष्ठं एतदालम्बनं परम
एतदालम्बनं ज्ञात्वा ब्रह्मलोके महीयते।

इस एक मात्र ओ३म् का आश्रय श्रेष्ठ और सर्वोपरि है। इसी अवलम्बन को जानकर इसी के सहारे ब्रह्मलोक में आनन्द की प्राप्ति होती है। पुनः कहा—

आणोरणीयान् महतो महीयान्
नात्मस्य जन्तोर्निहितो गुहायाम्
तमक्रतुः पश्यिति वीतशोको
धातु प्रसादात् महिमानं आत्मनः

अर्थात् वह ब्रह्म सूक्ष्म से सूक्ष्म है और महान से महान है वह प्राणी के हृदयाकाश में स्थित है। उस परमात्मा की महिमा को बुद्धि के निर्मल होने पर निष्काम भाव से कर्म करता हुआ शोक मोह आदि से मुक्त प्राणी उसके दर्शन करता है।

परमात्मा के अनेक नाम और आध्यात्मिक जागरण

ऋग्वेद में कहा है कि एक सत्य रूप ब्रह्म को विद्वान् लोग इन्द्र, मित्र, वरुण, अग्नि, दिव्य, सुपर्ण, गुरुत्मान, यम मातरिश्वा आदि अनेक नामों से पुकारते हैं परन्तु वह एक ही है। 'ओ३म्' ईश्वर का निज नाम है इसके अतिरिक्त शेष सभी नाम गुणवाचक हैं। जैसे सर्वव्यापक होने से विष्णु' दुष्टों को दण्ड देकर रूलाने से 'रूद्र' काल्याणकारी होने से 'शिव' और सबसे महान होने के नाते ब्रह्म आदि। परन्तु सर्वोत्तम नाम वही है जो परमात्मा का निज नाम यानी ओ३म् है जप तो ओ३म् का

हो और चिन्तन उसके गुणों का हो। प्रभु के गुण असंख्य हैं यह आवश्यक नहीं कि आप अनेक गुणों का चिन्तन करें। हमारा विश्वास है कि किसी भी एक गुण के चिन्तन का सहारा ले लें। उदाहरणार्थ ईश्वर के सर्व-व्यापकता के गुण को ही लें यदि हम इस गुण को हृदय से स्वीकार कर लें कि ईश्वर सदा हमारे अंग संग और यत्रतत्र सर्वत्र विराजमान हैं तो सब प्रकार के पाप कर्मों से बच जायेंगे क्योंकि मानव प्रवृत्ति है कि जब वह कोई पाप कर्म करना चाहता है तो एकान्त स्थान ढूंढता है। एकान्त इसलिये कि उसे पाप कर्म करते हुये कोई देख न ले और यदि यह विश्वास दृढ़ हो जाये कि मनुष्य तो भले ही न देखता हो परन्तु परमात्मा तो देख रहा है उसकी दृष्टि से कैसे बच पायेंगे तो पाप करने से बच जायेंगे। किसी का स्वत्व हरते समय भले ही स्वत्व के मालिक को पता न चले परन्तु परमात्मा तो देख रहा है फल दाता तो वही है कैसे बचा जायेगा उसके न्याय से ? अतः इस प्रकार का चिन्तन करने से सब प्रकार की हिंसा और अस्तेय से तो बचेंगे ही जीवन सत्यमय बनता चला जायेगा। यही योगदर्शन में कहे यम (अहिंसा सत्य अस्तेय ब्रह्मचर्य अपरिग्रह) है जो साधना का प्रथम चरण है। स्वयमेव सिद्ध होते चले जायेंगे और इस प्रकार जीवन में दिन प्रतिदिन एक परिवर्तन होता दिखाई देने लगेगा। बस इसी का नाम आध्यात्कि जागरण है।

आत्मदर्शन का अभिप्राय

आत्मदर्शन का अभिप्राय: है अपनी आत्मा के वास्तविक स्वरूप को जानना पहचानना। क्योंकि यही एकमात्र साधन है जिससे परमात्मा का सानिध्य प्राप्त हो सकता है और वह भी इसी मानव देह में अन्यत्र कहीं नहीं। ईश्वर के सानिध्य का अर्थ है दुःखों का अत्यन्ताभाव और जन्ममरण के बन्धन से छुटकारा पाना। हमारे ऋषियों ने इसका उपाय बताया योग साधना द्वारा ईश्वर का साक्षात्कार।

ईश्वर का साक्षात्कार ध्यान द्वारा

हमारे ऋषियों ने कहा है कि ध्यान से जो वस्तु अनुभव में आती है वह कल्पना नहीं है। मन किसी ऐसी बस्तु को सोच ही नहीं सकता जिसका आधार अनुभव न हो। जब हम ईश्वर के बारे में सोचते हैं तो हमारा सोचना यह सिद्ध करता है कि इसके अनुभव का कोई आधार हमारी चेतना में कहीं छिपा पड़ा है। हमारी इन्द्रियों के जो विषय हैं

उन्हीं को तो हम सोच सकते हैं। इसी प्रक्रिया को जरा उल्टा करके विचार कीजिये। जिस बात को हम सोच सकते हैं उसका कोई विषय होता है और उसकी कोई इन्द्रिय भी होती है। रूप को हम सोच सकते हैं इसलिये उसका विषय यह स्थूल जगत् है आँख उसकी इन्द्रिय है। शब्द हम सुन सकते हैं इसलिये संगीत उसका विषय है कान उसकी इन्द्रिय है। इसी प्रकार अनादि अनन्त सत्ता के विचार को हम सोच सकते हैं इस लिये आत्मा और परमात्मा उसके विषय हैं ध्यान उसकी इन्द्रिय है। इस दृष्टि से ध्यान भी आँख कान की तरह एक इन्द्रिय है जिससे ईश्वर का प्रत्यक्ष की तरह ही बोध होता है। ध्यान से जिस ईश्वर का पता चलता है वह कैसा है ? जिन्होंने ध्यान द्वारा उसे जाना उनका कहना है:—

अपानिपादो जवनो गृहीता पश्यत्यचक्षु स शृणोति अकर्णः।
स वेति वेद्यं न च तस्यास्ति वेता तमातुरग्रयं पुरुषं महानतम् ।।

श्वेताश्वेतर उपनिषद् के ऋषि का कहना है कि उसके न हाथ है न पाँव हैं फिर भी अत्यन्त वेग से वह गति करता है। बिना आँख के देखता है और बिना कान के सुनता है। जो कुछ जानने योग्य है उसे वह जानता है। सष्टि का यही महानतम ईश्वर है।

ईश्वर के इस स्वरूप की अनुभूति जिन्हें हुई वह कैसे हुई ? कौनसी वह इन्द्रिय है जिससे उन्हें इस चैतन्य सत्ता का बोध हुआ? किस इान्द्रय के अभाव से उस चैतन्य सत्ता का बोध नहीं होता ? कल्पना कीजिये एक प्राणी है जिसकी पाँच की बजाय चार इान्द्रयां हैं—आँख नहीं हैं। आप उसे कितना ही किसी वस्तु के स्वरूप के बारे में बतायें परन्तु वह उस वस्तु के वैसे स्वरूप को जंसा आँखों वाला देखें और समझ सकता है समझ नहीं पायेगा इसी प्रकार हमारे ऋषियों ने हमें बताया कि ध्यान भी एक इन्द्रिय है। छटी इन्द्रिय। जिनके वह होती है वे ही आत्मा तथा परमात्मा का अनुभव कर सकते हैं अतः ध्यान द्वारा ईश्वर का अनुभव प्रत्यक्ष दर्शन ही है।

योगदर्शन द्वारा प्रत्यक्षदर्शन का प्रतिपादन

योग दर्शन के विभूतिपाद में ऐसा वर्शन आता है जिसे हम योग-दर्शन के आचार्य के मतानुसार ईश्वर के प्रत्यक्ष दर्शन संभाबना कह सकते हैं। योगदर्शन के ४७वें सूत्र में एक शब्द का प्रयोग हुआ है 'इन्द्रियजय' इस शब्द का अर्थ है इन्द्रियों पर विजय प्राप्त कर लेना। इन्द्रियों पर

विजय पा लेने पर क्या होता है ? इसका विवरण देते हुये अगले सूत्र यानी ४८वें में कहा :—

ततो मनोजवित्वं विकरणभावः प्रधान जयश्च ।

अर्थात् इन्द्रिय जय के बाद मनोजवित्व प्राप्त हो जाता है मन अत्यंत शक्तिशाली हो जाता है। इसके साथ ही विकरण भाव प्राप्त हो जाता है 'करण' का अर्थ होता है साधन यानी इन्द्रियाँ 'वि' का अर्थ होता है बिना। विकरण भाव यानी इन्द्रियों के बिना अर्थात् इन्द्रियजयी इन्द्रियों के बिना केवल मन द्वारा प्रत्यक्षादि सब कार्य करता है फिर कहा इन्द्रियजय से प्रधान जय प्राप्त होता है। प्रधान का अर्थ कहा है प्रकृति और जय का अर्थ है जीत अर्थात् प्रकृति पर वह जीत प्राप्त कर लेता है। आज विज्ञान यंत्र आदि उपकरणों से जो कर रहा है इन्द्रियजयी योगी बिना उपकरणों के विकरण होकर मानसिक जवित्व से मानसिक शक्ति से सब कुछ प्राप्त कर सकता है।

संक्षेप में कहें तो इन्द्रियजयी इन्द्रियों से काम न लेकर मन से सभी काम लेता है। इन्द्रियों से काम लेने की उसे आवश्यकता ही नहीं रहती।

केनोपनिषद् के ऋषि ने कहा—आँख नहीं देखती आँख के पीछे एक शक्ति है जो आँख के द्वारा देखती है। कान नहीं सुनते कान के पीछे एक शक्ति है जो कान के द्वारा सुनती है आदि। ठीक यही बात योग-दर्शन के आचार्य ने कही। आँख नहीं देखती। हम आँख के द्वारा देखते हैं। कान नहीं सुनते हम कान के द्वारा सुनते हैं। इन्द्रियाँ केवल ज्ञान ग्रहण करने के साधन हैं। देखने वाला भीतर बैठा है। इन्द्रियाँ मस्तिष्क तक जो बात पहुँचाती हैं मस्तिष्क उसे आगे द्रष्टा तक पहुँचा देता है। योगदर्शन का कहना है कि इन्द्रियाँ तथा मस्तिष्क जिस दृष्टा तक अपनी बात पहुँचाते हैं उस द्रष्टा में ऐसी शक्ति भी है जिससे वह इन्द्रियों के बिना भी सब कुछ जान सकता है। इन्द्रियजयी अवस्था को प्राप्त हो जाना ही विकरण भाव की अवस्था है। इस अवस्था वाले व्यक्ति को इन्द्रियों के बिना ज्ञान प्राप्त होता है।

मनु स्मृति में भी मन को ग्यारवीं इन्द्रिय कहा है—
'एकादशं मनो ज्ञेयं इन्द्रिय उभयात्मकम्

मन ग्याहरवीं इन्द्रिय है जो ज्ञानेन्द्रियों तथा कर्मेन्द्रियों का काम करती है। स्वप्न में मन बिना आँख के देखता है बिना कान के सुनता है। इसी प्रकार बिना किसी बाह्य इन्द्रिय के मन द्वारा योगियों को ईश्वर

का प्रत्यक्ष होता है इस प्रकार ईश्वर का प्रत्यक्ष करने वाले योगियों का कहना है कि उन्होंने मन द्वारा ईश्वर का साक्षात्कार करके जान लिया है कि वह ज्योतियों की ज्योति महा ज्योति है।

आदित्य वर्णः तमसः प्रस्तात्

वह परमात्मा सूर्य के वर्ण जैसा है जहाँ अन्धकार का नामोनिशान नहीं।

यजुर्वेद का यह कथन मन द्वारा प्रत्यक्ष या साक्षात्कार का ही परिणाम है।

गीता में ईश्वर दर्शन का वर्णन

गीता में ईश्वर के प्रत्यक्ष दर्शन का वर्णन है प्रत्यक्ष दर्शन के लिये जन साधारण यह चाहता है कि ईश्वर शरीर धारण करके खड़ा होना चाहिए। निर्गुण से सगुण होना चाहिये। इसी लिये ईश्वर के प्रत्यक्ष दर्शन की इस माँग को पूरा करने के लिये आज अपने देश में भगवानों की बाढ़ सी आ गई है। हर कोई भगवान् बना जा रहा है। गीता के सातवें अध्याय में निर्गुण ईश्वर का सगुण में, अशरीरी का शरीरी के रूप में बड़ी कवितामयी ललित भाषा में वर्णन किया गया है। गीता कहती है हे अर्जुन ! देख मुझ अशरीरी का निर्गुण का शरीर—पानी में रस मैं हूँ, सूर्य चन्द्र में तेज मैं हूँ, वेदों में ओंकार मैं हूँ, पृथ्वी में गंध मैं हूँ, अग्नि में प्रकाश मैं हूँ, प्राणीमात्र में जीवन मैं हूँ, तपस्वियों में तप मैं हूँ, बुद्धिमानों में बुद्धि मैं हूँ, बलवानों में बल मैं हूँ, आश्चर्य यही है कि सब में मैं हूँ मेरे ही आश्रय से सब टिके हुये हैं फिर भी मंद बुद्धि लोग मेरी जगह इन्हीं को देखते हैं इन्हीं की उपासना करते हैं। मैं सभी जगह प्रकृति के इन पर्दों के पीछे से झांक रहा हूँ। जो प्रकृति के पर्दे को उखाड़ पाता है वही मेरे प्रत्यक्ष दर्शन कर पाता है।

क्या मैं पानी के रस में प्रत्यक्ष नहीं दीखता ? क्या मैं सूर्य चन्द्र के तेज में, वेदों की ओंकार ध्वनि में, आकाश में गुंजायमान शब्दों में, पुरुष के पराक्रम में, प्राणियों के जीवन में, तपस्वियों के रूप में प्रत्यक्ष नहीं दीख पाता ? जो इन सब जगहों पर मुझे देखता है वह मेरे प्रत्यक्ष दर्शन करता है। यह विशाल पृथ्वी पर बहने वाले नदी नाले, यह अथाह समुद्र, यह गगनचुम्बी पर्वतों के शिखिर, यह शस्य श्यामला योजनों लम्बी पर्वत शृंखलाएँ, यह सूर्य चंद्र यह तारा गण ये सब क्या हैं ईश्वर का शरीर यही तो है। इस जड़ सृष्टि में जो उसकी प्राणभूत सत्ता के

दर्शन कर लेता है वह ईश्वर को मानों सामने खड़ा हुआ देखता है।
पश्य देवस्य काव्यं न ममार न जीर्यति।

यह सृष्टि के रचयिता का काव्य है जो जरा और मृत्यु से मुक्त है न बूढ़ा होता है और न मरता ही है। सृष्टि रूपी काव्य में उसका प्रत्यक्ष हो रहा है।

तैत्तिरीय उपनिषद् के कहा है

नमो ब्रह्मणे नमस्ते बायो: त्वमेव प्रत्यक्षं ब्रह्मासित्
त्वामेव प्रत्यक्षं ब्रह्म वदिष्यामि'

हे वायु तुझे नमस्कार हो, तू मानो प्रत्यक्ष साक्षात्कार ब्रह्म है मैं तुझे ही प्रत्यक्ष ब्रह्म कहूँगा।

काम्टे द्वारा प्रत्यक्ष दर्शन का समर्थन

पाश्चात्य विचारक कम्टे ने भी सृष्टि में ईश्वर के प्रत्यक्षक दर्शन की बात कही है। उन्होंने Religion of Humanity मानव धर्म की स्थापना की थी। उनका कहना है कि कोई ऐसी शक्ति है जो हमसे भिन्न है, हमसे ऊपर है, हमसे परे है जिसके सामने हमें बरबस सिर झुकाना पड़ता है जिसे हमें सर्वोपरि मानना पड़ता है। वह शक्ति क्या है? धर्मवादी उस शक्ति को ईश्वर अथवा परमेश्वर कहते हैं। परन्तु काम्टे तो ईश्वरवादी नहीं था वह तो भौतिकवादी था, प्रत्यक्षवादी था वह ईश्वर जैसी शक्ति को कैसे मानता? उसकी मान्यता थी कि मानवता (Humanity) ही वह शक्ति है जो हमारे ऊपर है हमसे परे है, जिसके सामने हमें बरबस सिर झुकाना पड़ता है। कम्टे ने मानवता को प्रत्यक्ष ईश्वर कहा। मानवता का मन्दिर बनाने तथा उसकी पूजा करने का प्रयास किया। वास्तव में काम्टे हृदय से उस शक्ति विशेष के सामने नत मस्तक तो हुआ भले ही उसे ईश्वर कहकर न पुकार पाया।

तो यदि संक्षेप में इस अध्याय के बारे में लिखें तो यूं लिख सकते हैं कि यम नियमों का पालन करते हुये इस मानव देह को मोक्ष का एक मात्र साधन जानकर ध्यान द्वारा ब्रह्म का साक्षात्कार करने के लिये सतत प्रयत्नशील रहना ही मोक्ष का एकमात्र उपाय है। जीवन भर तर्क वितर्क करते रहने से कोई लाभ होने वाला नहीं। आखिर यह तर्क-वितर्क किस लिये? यदि यह सत्य की खोज के लिये है तो जो जितना सत्य रूप में प्राप्त हो गया उसे धारण कर, पग आगे बढ़ाना ही श्रेयस्कर

है। जितना इस जीवन में प्राप्त हो गया उतना ही सही। शेष के लिये आगे बहुत जीवन मिलेंगे। जितना इस जन्म में पा लिया है अगले में इससे आगे चलने का अवसर अवश्य प्राप्त होगा यहाँ की उपलब्धि नष्ट नहीं होगी और इस प्रकार इस राह का पथिक एक दिन अवश्य मंजिल को पाकर रहेगा। भले ही समय कितना भी लगे।

बस इस विश्वास के साथ चलने वाले साधक का स्वयं परमपिता दयालु पिता शनैः शनैः आगे का मार्ग प्रशस्त करते जाते हैं। साधक के लिये इतना ही अनिवार्य है कि वह पूरी आस्था के साथ चिरकाल तक निरंतर नियमपूर्वक साधना के पथ पर चलता रहे।

कब तक यहाँ रहना है हमें ?

क्या आयु निश्चित है ? उत्तर में यूं कहा जा सकता है कि जब तक हमारे भोग जो कि हमारे इस शरीर में आने से पूर्व ही निश्चित हो गये थे समाप्त नहीं हो जाते तब तक इस संसार में रहना होगा। यह कहना कि आयु निश्चित है और निश्चित अवधि तक तो जीयेंगे ही। हमारे धर्म ग्रंथकार ऐसा नहीं मानते। हमारे मनीषियों का कहना है कि आयु किसी भी प्राणी की निश्चित नहीं है। यदि निश्चित है तो जातियों की (मनुष्य, पशु, पक्षी आदि योनियों की) वह भी अनुमानतः। जैसे मनुष्य की आयु १०० वर्ष, कुत्ते की १० वर्ष, घोड़े की २० वर्ष तथा मच्छर मक्खी आदि की एक सप्ताह और कई कीड़े मकौड़े तो ऐसे भी हैं जिनकी आयु कुछ घण्टे ही है।

यद्यपि मनुष्य जाति की आयु १०० वर्ष की कही परन्तु हम देखते हैं कि ऐसे भी लोग थे जो इससे अधिक जीये और आज भी जी रहे हैं और ऐसों की संख्या तो गिनी ही नहीं जा सकती जो १०० वर्ष पूरे कर ही नहीं पाते। प्रायः ६०, ७०, या ८० पूरे करते-करते ही मृत्तु का ग्रास बन जाते हैं। इसी लिये वेद ने आदेश दिया कि नित्य प्रार्थना करो कि हम १०० वर्ष तक जीयें। यदि आयु निश्चित ही होती तो वेद इस प्रकार का उपदेश कभी न देते।

आयुर्वेद के विख्यात ग्रंथ चरक में भी ऐसी चर्चा आई है। वहाँ ऋषि व्याख्या करते हुये बताते हैं कि एक प्रकार की मृत्यु स्वभाविक है और १०० प्रकार (असंख्य) की मृत्युएँ अस्वाभाविक अथवा असामयिक या अकाल मृत्युएँ हैं। स्वभाविक मृत्यु ठीक ऐसी ही है जैसे दिन के बाद

रात्रि आती है। इसी प्रकार जीवन ढलते-ढलते वृद्धावस्था के कारण जब शरीर जीर्ण शीर्ण होकर मृत्यु को प्राप्त हो जाता है तो वह स्वाभाविक मृत्यु कहलाती है। इससे भिन्न यानी स्वाभाविक मृत्यु से पूर्व मरना, दुर्भिक्ष, अतिवृष्टि, तूफान, बाढ़ आदि अथवा दुर्घटना आदि से मरना यह सब अस्वाभाविक या अकाल मृत्युएँ हैं।

जब किसी व्यक्ति को दुर्घटना आदि से मरते देखते हैं तो हम प्राय: कह दिया करते हैं कि बेचारे ने इतनी ही लिखाई थी और अधिक जीता भी कैसे आखिर मरने के लिए कोई तो कारण बनना ही था। यह एक मिथ्या भ्रान्ति है। न किसी ने किसी की आयु लिखी है और न किसी ने लिखाई है। यदि इस कथन को सत्य मान लिया जावे जो एक कानूनी अड़चन खड़ी हो जायेगी। कानून किसी दुर्घटना से मरने वाले को दोषी न ठहरा सकेगा। ट्रक या मोटर के नीचे आकर ड्राईवर की गलती के कारण कोई निर्दोष मारा गया। ड्राईवर कह सकता है कि इसने तो लिखाई ही इतनी थी। इसने तो मरना ही था। जब इसके मरने का स्थान मेरे ट्रक या कार के नीचे ही लिखा था तो मेरा इसमें क्या दोष? तो क्या न्यायाधीश उसकी इस युक्ति को मान कर उसे क्षमा कर देगा निश्चय ही नहीं, अतः यह मानना होगा कि किसी भी प्राणी की आयु निश्चित नहीं है। क्योंकि

आयु को बढ़ाना घटाना हमारे वश में है

इसे घटाना या बढ़ाना हमारे वश में है। कहा जा सकता है कि कौन चाहता है कि मैं अपनी आयु को घटाऊँ। परन्तु न चाहते हुये भी हम अनेकों ऐसे कर्म करते हैं जिनसे आयु घटती है और ऐसे ही अनेक कर्म ऐसे भी हैं जिनके द्वारा आयु बढ़ाई जा सकती है।

हमारे ऋषियों ने कहा है कि आयु की गणना वर्षों से नहीं बल्कि श्वासों से की जाती है। ऐसे कार्य जिनमें श्वासों की गति तीव्र होती है आयु को घटाने वाले होते हैं। जैसे कामवासना आदि क्रियाएँ हैं। निरंतर भय के वातावरण में रहना, समाज विरोधि कार्य जिनमें हिंसा और चोरी आदि प्रमुख हैं आयु को घटाने वाले कर्म हैं और इसी प्रकार प्राणायाम आदि योगाभ्यास की क्रियायें, धर्माचरण, समाज और राष्ट्र को बल देने वाले कार्य आयु को बढ़ाते हैं। हमारे पूर्वज योगाभ्यास और परोपकार के कारण ही सैंकड़ों वर्षों की आयु भोगा करते थे। मनु जी

कहते हैं 'आचारात् लभते आयुः' अच्छे आचरण से दीर्घायु प्राप्त होती है। भगवान राम के गुणों का वर्णन करते हुये बाल्मीकी रामायण में एक वर्णन आता है कि—

अभिवादनशीलस्य नित्य वृद्धोपसेविनः।
चत्वारि तस्य वर्धन्ते आयुर्विद्या यशो बलम् ॥

माता पिता अतिथि तथा गुरुजनों आदि वद्धों की जो नित्य सेवा करता है और नित्य अभिवादन करता है, ऐसे व्यक्ति की चार चीजों की वृद्धि होती रहती है। यह चार चीजें हैं आयु, विद्या, यश और बल। इस कथन से भी यही सिद्ध होता है कि हमारे ऋषि मुनि आयु को निश्चित नहीं मानते थे।

व्यवहार में भी हम देखते हैं कि प्राणवान की तो बात दूर रही जड़-वस्तु की भी यदि विधिवत् संभाल न हो, उसका रखरखाव अयोग्य हाथों में हो तो वह भी समय से पहले ही खराब हो जाती है। किसी एक मशीन को ही ले लें, भले ही उस पर गारंटी तो १० वर्ष की लिखी हो यदि वह अयोग्य हाथों में रहे, समय पर उसकी सफाई न हो, तेल आदि न दिया जाये तो वह १० वर्ष तो क्या दो तीन वर्षों में ही उसका हुलिया बिगड़ा दिखाई देता है। और दूसरी ओर उस जैसी दूसरी मशीन जिसका रख-रखाव और प्रयोग कुशल हाथों में रहा हो वह १० वर्ष के बाद भी नई जैसी ही कार्य करती दिखती है। ठीक यही स्थिति हमारे शरीर की भी है। विषय विकारों में पड़ा व्यक्ति अपनी जीवन लीला जल्दी समाप्त कर लेता है और सात्विक आहार-विहार वाला व्यक्ति लम्बी आयु को प्राप्त होता है। अतः कब तक यहाँ रहना है जब तक हम इस शरीर रूपी नौका को चुस्त दुरुस्त रखकर अपने भोगों को पूरा नहीं कर लेते तब तक। हाँ यदि अकाल मृत्यु का ग्रास बनकर इस संसार से चल बसें तो शेष बचे भोगों को भोगने के लिए पुनः इस संसार में आगमन होगा।

इसके बाद कहाँ जाना होगा ?

नचिकेता ने भी यमाचार्य से यही प्रश्न किया था कि मरने के पश्चात् प्राणी की क्या गति होती है ? यमाचार्य ने कहा था कि मरने के पश्चात् एक प्रकार के प्राणी तो मनुष्य, पशु, पक्षी चलने फिरने वाले प्राणियों की योनियों को प्राप्त होते हैं परन्तु दूसरी प्रकार के प्राणी स्थावर वृक्षादि की योनियों में चले जाते हैं। यह दो प्रकार की

भिन्न-भिन्न अवस्थायें क्यों होती हैं ? इसका कारण यमाचार्य ने ज्ञान और कर्म की विभिन्नता कही है।

योनिमन्ये प्रपद्यन्ते शरीरत्वाय देहिनः।
स्थाणुमन्येऽनुसंयन्ति यथाकर्म यथाश्रुतम् ॥ (कठोप.)

जब मनुष्य के पुण्य और पाप बराबर होते हैं तो मरने के पश्चात् पुनः मनुष्य योनि प्राप्त होती है और जब पुण्य ही पुण्य होते हैं तो मनुष्य योनियों में भी उत्तम मनुष्य योनि प्राप्त होती है। इसके विपरीत जब पुण्य कम और पाप कर्म अधिक अथवा पाप कर्मों की प्रचुरता और पुण्य कर्म नगण्य होते हैं तो नीचे की योनियाँ पशु, पक्षी, कीट, पतंग अथवा स्थावर योनियों में जाना होता है।

अतः पहली गति तो यह है कि ऐसे प्राणियों का आवागमन आवश्यक है और ऐसे प्राणी अपने-अपने ज्ञान और कर्म के अनुसार जन्म लेते हैं। इसके पुनः दो भाग कहे जा सकते हैं।

एक गति सकाम कर्म करने वालों की और दूसरी गति निष्काम कर्म करने वालों की होती है। सकाम का अर्थ है वे शुभ कर्म, जो करने से पूर्व ही एक निश्चित इच्छा को लेकर किये जाते हैं जैसे पुत्रेष्टि यज्ञ आदि। अथवा किन्हीं विशेष कामनाओं की पूर्ति के लिये जो पूर्त्त कर्म (बौली, कूप, तालाब, विद्यालय, औषद्यालय अथवा सार्वजनिक हितकारी कार्य) किये जाते हैं। ऐसे प्राणी अन्धकार से रहित प्रकाशयुक्त योनियों को प्राप्त करते हैं और अपने शुभ परन्तु सकाम कर्मों का भोग करते हैं।

दूसरी गति निष्काम कर्म करने वालों की है। निष्काम कर्म में फल की इच्छा न करके जो शुभ कर्म किये जाते हैं अर्थात् कर्त्तव्य (Duty) समझकर जो कर्म किये जाते हैं उन्हें निष्काम कर्म कहते हैं। वैदिक कर्म पद्धति में निष्काम कर्मों को बहुत उच्च स्थान प्राप्त हैं। इन्हीं कर्मों के द्वारा मृत्यु के बन्धन कटते हैं। गीता ने तो निष्काम कर्म को कर्मयोग का नाम दिया है। अर्जुन को उपदेश देते हुये श्री कृष्ण ने बड़े स्पष्ट शब्दों में कहा :—

कर्मण्येवाधिकारस्ते मा फलेषु कदाचन।
मा कर्म फलहेतुर्भूर्मा संङ्गोऽस्तु अकर्मणि ॥

तेरा अधिकार तो केवल कर्म करने में है, फल पर कभी नहीं। तू कर्म के फल का हेतु मत हो। परन्तु अकर्म में भी तेरा फंसाव नहीं होना चाहिए।

जहाँ निष्काम कर्म को इतना महत्व दिया गया, वहाँ सकाम कर्म को बन्धन का कारण भी बताया गया है।

मुण्डकोपनिषद् में कहा है कि—

भिद्यते हृदय ग्रंथि छिद्यन्ते सर्व संशयाः।
क्षीयन्ते चास्य कर्माणि तस्मिन् दृष्टे परावरे ।।

अर्थात् जब सकाम कर्म जन्य वासना नष्ट हो जाती है और सब सकाम कर्म क्षीण हो जाते हैं तब मनुष्य मोक्ष का अधिकारी हो जाता है, तो इस प्रकार फल की इच्छा न रखते हुये केवल कर्त्तव्य कर्म समझ कर लोक संग्रह के कार्य करने वाला मनुष्य मोक्ष को प्राप्त होता है और यह कर्म के अनुसार मनुष्य की तीसरी गति कहलाती है।

कैसे जाना होगा ?

आगामी जन्म का आधार हमारी वासनायें हैं।

वासनायें क्या हैं ? एक प्रकार का अभ्यासांश हैं। यह वासनायें जो किये हुये कर्मों की स्मृति के रूप में चित्त में रहती हैं। जिस कर्म की यह वासना होती है वैसा ही कर्म बार-बार करने की प्रेरणा करती रहती है।

मुण्डकोपनिषद् ने इसी वासना को हृदय ग्रन्थि का नाम दिया है जो मनुष्य के अन्तःकरण में रहती है।

प्रश्नोपनिषद् ने भी इस विषय का समर्थन करते हुये अपने शब्दों में इस प्रकार कहा है :—

यच्चित्तस्तेनैष प्राणमायाति प्राणस्तेजता युक्तः।
सहात्मना यथा संकल्पितं लोकं नयति ।।

मरते समय यह जीवात्मा जिस संकल्प वाला होता है, उस संकल्प के साथ, मुख्य प्राण में स्थित हो जाता है। मुख्य प्राण उदान से युक्त हो मन इन्द्रियों से युक्त जीवात्मा को उसके संकल्प अनुसार भिन्न-भिन्न लोक अथवा योनि को ले जाता है।

इस विषय की गम्भीरता को ध्यान में रखते हुये मुण्डकोपनिषद् के ऋषि कहते हैं कि :—

यंयं लोकं मनसा संविभाति।
विशुद्ध सत्त्वः कामयते यांश्च कामान्।

तंतं लोकं जायते तांश्च कामा—
स्तमात् आत्मज्ञं हि अर्चयेत् भूतिकामः ॥

अर्थात् निर्मल बुद्धि वाला पुरुष जिस-जिस लोक (योनि) का मन से चिन्तन करता है तथा उसकी वासना के वशीभूत होकर जिन-जिन भोगों को चाहता है। उस-उस लोक और उन-उन भोगों को प्राप्त करता है। इस लिये सिद्धि के इच्छुक आत्मवित्-पुरुष (विद्वान्) की पूजा करे।

सभी उपनिषद् इस विषय पर एक मत होकर इस बात का समर्थन करती हैं कि आगामी जन्म चित्त की वासनाओं के अनुकूल होता है।

प्रायः देखने में आता है कि मरणासन्न मनुष्य को गीता पढ़कर सुनाई जाती है। इस विश्वास के साथ कि मरते समय ध्यान ईश्वर की ओर होगा तो अगला जन्म अच्छा होगा। परन्तु यह विश्वास निराधार है। सभी उपनिषदों ने बड़े स्पष्ट शब्दों में कहा है कि वासनायें ही अगले जन्म का आधार हैं और वासनायें बनती हैं अभ्यास से। कोई भी कार्य बार-बार करने से या होते रहने से चित्त पर जो संस्कार पड़ते हैं वह वासना का कारण बनते हैं। अनायस मरणासन्न को गीता सुनाने से क्या लाभ? वह तो सारी आयु के किये हुये कर्मों का अपने चित्त पर, चित्रपट पर आये हुये चित्र की तरह अपनी वासनाओं के चित्र देख रहा होता है। तभी तो ईषोपनिषद् ने कहा है कि ऐ मानव। 'कृतं स्मर' अपने किये हुये कर्मों का स्मरण कर। अतः ऐसे समय गीता आदि सुनाने अथवा अन्य किसी धार्मिक प्रकरण का पाठ सर्वथा निरर्थक है। कामना तो मरते समय वही रहेगी जिसका आयु भर अभ्यास किया जाता रहा होगा। वह चाहे अच्छी रही हो चाहे बुरी।

सहयात्री कौन? और कैसे साथ जायेगा?

आत्मा के शरीर छोड़ते समय प्राणी की अवस्था

अब विचारनीय बात यह है कि प्राण छोड़ते समय या आत्मा के शरीर छोड़ते समय प्राणी की क्या अवस्था होती है? हम देखते हैं कि जब घर का कोई प्रियजन कहीं बाहर जाने लगता है तो घर के सभी छोटे-बड़े उसके गिर्द जमा हो जाते हैं और उसे विदाई (Seeoff) देने के लिये रेलवे स्टेशन तक साथ चले जाते हैं। इसी प्रकार जब आत्मा भी शरीर को छोड़कर चलने की तैयारी करती हैं तो समस्त इन्द्रियां और

प्राण उसके गिर्द उपस्थित होने शुरू हो जाते हैं। आत्मा उस समय अपने तैजस अंशों को जो समस्त शरीर में व्याप्त रहते हैं समेटना शुरू कर देती है। इसे यूं भी कहा जा सकता है कि आत्मा अगली यात्रा में अपने साथ ले जाने वाली आवश्यक वस्तुयें पैक करना शुरू कर देती है और उन्हें अपने निजी कक्ष यानी हृदय में ले जाती है। ज्यों-ज्यों यह तेज खिंचता चला जाता है त्यों-त्यों ही मरणसन्न व्यक्ति का देखना, सुनना, बोलना बन्द होता जाता है। उस समय उसके हृदय का अग्रभाग प्रकाशित होने लगता है और वह उस प्रकाश सहित निकल जाती है और शरीर निर्जीव हो जाता है। इसी का नाम मृत्यु है।

आत्मा के निकलने का द्वार

बृहदारण्यकोपनिषद् और कठोपनिषद् में लिखा है कि जब जीव मुक्ति का अधिकारी होता है तो यह आत्मा ब्रह्मरन्ध्र (सिर के ऊपर मध्य भाग में) द्वारा निकलता है परन्तु जब मुक्ति से भिन्न गति होती है तो अन्य मार्गों से निकलता है। यह अन्य मार्ग आँख, नाक, मुख और मल-मूत्र की इन्द्रियाँ हैं।

एक किंवदन्ति है कि उत्तम कर्मों वाले की आत्मा आँखों द्वारा निकली है, मध्यम की श्वास (नाक) द्वारा और निकृष्ट की मुख द्वारा और अतिअधम की मूत्रपुरीष द्वारा और इसकी पहचान बताते हैं कि आँखों द्वारा निकलने पर मृतक की आँखें खुली रहती हैं और मुख द्वारा निकलने पर मुख खुला रहता है और मूत्रपुरीष द्वारा निकलने पर इन दोनों का विसर्जन होता है। परन्तु इसमें कोई सत्य भी है? कह नहीं सकते क्योंकि ऐसा वर्णन हमें किसी प्रामाणिक ग्रन्थ में अभी तक देखने को नहीं मिला।

सूक्ष्म शरीर

आत्मा के साथ जाने वाले सहयात्री अर्थात् उसके सामान की कैफियत भी जान लेनी चाहिये। वह है सूक्ष्म शरीर (पाँच प्राण, पाँच तंमात्रायें, पांच ज्ञानेन्द्रियाँ, मन, बुद्धि और अहंकार। इस प्रकार १८ तत्व हैं जो अत्यन्त सूक्ष्म रूप से सदा आत्मा के साथ बने रहते हैं। कोई-कोई अठारह तत्वों की बजाय सत्तरह गिनते हैं। वह अहंकार को पृथक् न गिनकर बुद्धि के अन्तर्गत ही मान लेते हैं। सूक्ष्म शरीर सदा आत्मा के साथ सहयात्रीवत बना रहता है। हाँ, मोक्ष में यह आत्मा के

साथ नहीं रहता और पुनः मुक्ति के पश्चात् जन्म लेने पर नया सूक्ष्म शरीर मिल जाता है।

इन उपरिवर्णित तत्वों का यदि सरल शब्दों में वर्णन करें तो यूं कह सकते हैं कि शरीर से निकलने वाला जीव अपने साथ अपना ज्ञान, अपने कर्म और अपनी पूर्व प्रज्ञा यानि जन्म जन्मान्तर के अर्जित अनुभव ले जाता है। तो मानना होगा कि पाप और पुण्य कर्म दोनों के वशीभूत होकर जीव एक शरीर को छोड़कर दूसरे शरीर में जाता है।

क्या मृत्यु दुःखदायी है ?

हम पीछे पढ़ आये हैं कि अनेक नस नाड़ियों से बने शरीर और अमर आत्मा के संयोग का नाम जीवन है और इन्हीं दोनों के वियोग का नाम मृत्यु है और जैसा कि हमारे दर्शन शास्त्रों का कहना है कि संयोग और वियोग एक प्रकार की क्रियायें हैं अतः परिणामी हैं और परिणाम को देखकर ही कहा जा सकता है कि यह दुःखद है या सुखद। व्यावहारिक परिणाम प्रायः जो हमारे सामने आता है उसके अनुसार तो यह समझा जाता है कि मृत्यु दुःखदायी है परन्तु न तो हमारे धर्मग्रन्थ ही इस बात को मानते हैं और न ही आधुनिक वैज्ञानिक ही। भगवान् श्री कृष्ण ने अर्जुन का मोह भंग करने के लिए मृत्यु के बारे में गीता में बड़ा सुन्दर उदाहरण दिया। गीता कहती है :—

वांसासि जीर्णानि यथा विहाय नवानि गृह्णाति नरोऽपराणि।
तथा शरीराणि विहाय जीर्णानि अन्यानि संयाति नवानि देही ।। (गीता)

जैसे फटे पुराने वस्त्रों को उतार कर नये वस्त्र पहनने में प्रसन्नता का आभास मिलता है ठीक ऐसे ही जीर्णशीर्ण शरीर को छोड़कर नया शरीर प्राप्त करने में दुःख क्यों हो ? योगिराज श्री कृष्ण मृत्यु को एक साधारण सी प्रक्रिया कह कर अर्जुन को उपदेश देते हुये कहते हैं कि जीवन और मृत्यु दिन और रात के समान हैं। कोई दिन ऐसा नहीं जिसके पीछे रात्रि न आये और कोई रात्रि ऐसी नहीं जिसके पश्चात् पुनः प्रभात न हो। इसीलिए मृत्यु को सामने खड़ी देखकर जो व्यक्ति दुःखी दिखाई देते हैं वास्तव में वह मोहग्रस्त हैं। मोह जो उनका इस संसार से, परिवार से अथवा अपनी अर्जित धन सम्पत्ति से है उसके कारण है यदि इस मोह को अलग कर दिया जाये तो मृत्यु कदापि दुःखदायी नहीं रहती।

एक वैज्ञानिक जिनका नाम डा० हग लांसडेल हैण्डज (Hugh

Lansdale Hands) था, ने बड़ा विचित्र परीक्षण करने का दुःसाहस किया। उन्होंने जानना चाहा कि मृत्यु दुःखदायी है या सुखकारी। वह विष खाकर कागज पैंसिल लेकर मृत्यु की प्रतीक्षा में बैठ गये और जो-जो अनुभव होता गया लिखते गये और अपने जीवन की आहुति देकर संसार को यह बता गये कि मृत्यु दुःखदायी नहीं बल्कि सुखकारी है। पढ़िये उन्हीं के शब्दों में :—

I have taken half an ounce of acconite and an ounce of chloral Hydrate, Both are nice except the tingling, waiting, feeling very happy-first time, I never felt, Without worries as if free, Japs are right, death is lovely. I feel fine, no pain.

दो प्रकार का विष लेने के पश्चात् लिखते हैं :—मामूली कँप-कँपी का अनुभव हो रहा है, मैं बहुत प्रसन्नता का अनुभव कर रहा हूँ—ऐसी प्रसन्नता जो पहले कभी अनुभव नहीं की। कोई चिन्ता नहीं। जापानी लोग सच कहते हैं। मृत्यु बहुत प्यारी है मैं बिल्कुल प्रसन्नचित हूँ मुझे कोई कष्ट नहीं।

सुकरात का कथन

सुकरात ने कहा था कि मैं मरूँ या न मरूँ यह मेरे बस की बात नहीं है किन्तु मैं हँसता हुआ मरूँ या रोता, यह मेरे अपने हाथ में है। मृत्यु के समय भयभीत होना निश्चित ही मनुष्य द्वारा किये गये खोटे कर्मों का सूचक है, जो व्यक्ति जीवन में ईश्वर के समीप रहा हो और उसके द्वारा निर्दिष्ट कर्मों को उसका आदेश या उस द्वारा दी गई प्रेरणा मानकर कार्य करता रहा हो उसे यह चोला छोड़ते दुःख क्यों होने लगा। वह तो 'प्रभो ! तेरी इच्छा पूर्ण हो' कहता हुआ हँसता-हँसता इस संसार से विदा लेगा।

अन्तिम यात्रा (इस कड़ी की)

एक योनी से दूसरी योनी तक पहुँचने का समय

राजा जनक ने ऋषि याज्ञवल्क्य से यही प्रश्न किया था कि एक योनी से दूसरी योनी तक पहुँचने में कितना समय लगता है ? तो ऋषि

ने कहा था 'तृणजलायुका वत्' अर्थात् जोंक को एक तिनके से दूसरे तिनके तक पहुँचने में जितना समय लगता है बस उतना ही। कुछ विद्वानों का कहना है कि जब मृत्यु दुर्घटनावश होती है तब ऐसा नहीं होता। दिवंगत की आत्मा भटकती रहती हैं जब तक कि उसको प्रभु का आश्रय नहीं मिलता। हमारे विचार में यह ठीक नहीं, क्योंकि परमात्मा सर्वज्ञ और त्रिकालदर्शी हैं। क्या हम मानें कि उन्हें होने वाली दुर्घटना का ज्ञान नहीं था अतः उसको अन्यत्र भेजने के लिए प्रबन्ध करने में कुछ समय चाहिये और तब तक दुर्घटना वाली आत्मा को बलात् भटकना पड़ेगा। इससे तो ईश्वर की सर्वज्ञता में दोष आ जायेगा जो नितान्त अयुक्त होगा।

आत्मा को अपने लिए नए घर की खोज

अन्तिम पहेली इस कड़ी की यह है कि आत्मा अपना नया घर खोजती कैसे है ? हम व्यवहार में देखते हैं कि कई मनुष्य मकान बनाते हैं किराये पर उठाने के लिये और कई उसमें रहने के लिए अपनी-अपनी सुविधा को ध्यान में रखते हुये आ बसते हैं। ठीक ऐसे ही एक ओर माता-पिता स्थान तैयार कर रहे हैं और दूसरी ओर आत्मा अपनी अर्जित पूँजी को सूक्ष्म शरीर रूपी बक्से में भर कर चल देता है। इन दोनों को गुण, कर्म और स्वभाव के अनुसार एक दूसरे का आकर्षण भी है और खोज भी और इसके साथ-साथ आदेश है उस परम 'नियन्ता' का जो गुप्त रीति से सारा प्रबन्ध कर रहा है। बस इस आदेश के साथ आत्मा अपने नये घर में प्रवेश करता है और इस गृह प्रवेश के साथ आत्मा एक बार फिर कुछ बन्धा-बन्धा परन्तु कर्म करने में पूर्ण स्वतन्त्र कर्म क्षेत्र में प्रवेश करता है। मृत्यु रूपी रात्रि समाप्त हो जाती है और जीवन रूपी दिन फिर से उदय हो उठता है।

यह तो गाथा है उन जीवों की जो आवागमन के चक्र में फंसे हैं परन्तु कुछ ऐसे भी होते हैं जो मुक्ति के अधिकारी होते हैं। उनके बारे में भी विचार करना आवश्यक है परन्तु इस से पूर्व यह आवश्यक है कि जान लें मुक्ति, मोक्ष अथवा अपवर्ग नाम से पुकारे जाने वाली लुभावनी वस्तु है क्या ?

मुक्ति

जीव के विकास की पराकाष्ठा का नाम मुक्ति अवस्था है। बस जीव यहीं तक उन्नति कर सकता है—इसके आगे कुछ नहीं

है। विकास की पराकाष्ठा का अर्थ है कर्तृत्व, भोक्तृत्व और ज्ञातृत्व की विशद से विशद शक्ति को प्राप्त कर लेना। यह तीनों गुण आत्मा के स्वभाविक गुण हैं और इन तीनों को याथातथ्यता प्राप्त कर लेने का परिणाम ही मुक्ति है।

न्याय दर्शन ने मुक्त या अपवर्ग का लक्षण इस प्रकार किया है:—'दु:ख जन्म प्रवृति-दोष मिथ्याज्ञानानामुत्तरोत्तरापाये तदनन्तरापायादपवर्ग:' अर्थात् जब सुख-दु:ख, जन्ममरन, रागद्वेष आदि प्रवृत्तियाँ तथा मिथ्या ज्ञान का नाश हो जाता है तब अपवर्ग की प्राप्ति होती है। मिथ्याज्ञान की व्याख्या भिन्न-भिन्न विद्वानों ने भिन्न-भिन्न प्रकार से की है और काफी जटिल भी बना दी है। परन्तु यदि इसे सरल शब्दों में और संक्षेप में कहना चाहें तो यूं कह सकते हैं कि साधन को साध्य समझ लेना ही मिथ्या ज्ञान है। संसार की वस्तुयें सुख का साधन हैं सुख नहीं। पहली और बड़ी भूल यह है कि हम इन चीजों को ही सुख समझ लेते हैं।

हम खाना खाते हैं। मजेदार लगता है। वस्तुत: मजा एक लाभ है—अतिरिक्त लाभ, जो आपके खाद्य पदार्थ में मिलकर व्यापार करने में प्राप्त हुआ। यदि आपका स्वास्थ्य अच्छा है और परिश्रम करके भूख लगने पर खाते हैं तो खाना मजेदार लगेगा। यदि आपने समझा कि मजा केवल खाद्य पदार्थ की पूँजी का ही फल है और अपनी पूँजी (यानी परिश्रम) नहीं लगाई तो यह खाना खाते समय मतली आने लगेगी और जबरदस्ती ठूंसने पर वमन हो जायेगा। इसी उदाहरण को दूसरी जगह भी घटाइये। एक व्यक्ति रुपये में ही सुख समझता है। दूसरा समझता है कि विशेष अवस्था में रुपया मेरा सहायक हो सकता है और मेरी पूँजी के अनुसार मुझे सुख दे सकता है। वास्तव में यह एक अभ्यास है जो ब्रह्मचर्य काल से ही कराया जाता रहा है। तभी तो संस्कार के समय आशीर्वाद देते हुये कहते थे—अन्नपति हो, अन्नाद हो, अर्थात् यदि अन्नाद नहीं, खाकर पचा नहीं सकते तो अन्नापति होने का क्या लाभ ? अत: बड़ा सार्थक आशीर्वाद होता था कि अन्नपति भी होवो और अन्नाद भी।

मिथ्याज्ञान है तो राग और द्वेषरूपी दोष भी अवश्य होंगे। अत: इसे दूर करने के लिये सत्य ज्ञान की प्राप्ति बहुत आवश्यक है। सत्य ज्ञान के होते ही बिना प्रयत्न के मिथ्याज्ञान दूर हो जायेगा। ठीक ऐसे ही जैसे प्रकाश के होते ही अन्धेरा दूर हो जाता है। फिर बारी आती है

प्रवृत्तियों की। गौतम ऋषि कहते हैं कि मिथ्या ज्ञान दूर होने पर प्रवृत्तियाँ पवित्र होंगी और मनुष्य जन्म मरण के बन्धन से छूट जायेगा। जब तक मनुष्य सकाम कर्म करता रहता है और सांसारिक वस्तुओं से उसे राग बना रहता है उस समय तक उसकी प्रवृत्तियाँ सूक्ष्म शरीर में प्रेरणा करती रहती हैं और उसी के अनुसार अगले जन्म का कारण बन जाता है।

परन्तु जन्म जन्मान्तर के अभ्यास से जब ज्ञातृत्व, कर्तृत्व और भोक्तृत्व का अधिक विस्तृत विकास हो जाता है और सांसारिक वस्तुओं की इच्छा समाप्त हो जाती है तथा प्रवृत्तियाँ वाह्यमुखी न रह कर अन्त-र्मुखी हो जाती हैं। तब यह अवस्था आ जाती है जब मनुष्य, मनुष्य देह में ही जीवनमुक्त हो जाता है ऐसे मनुष्य का जब स्थूल शरीर छूट जाता है तो सूक्ष्म शरीर में किसी प्रकार की कोई वासना शेष नहीं रह गई होती तब वह जन्म मरण के बन्धन से छूट जाता है, इसी का नाम मुक्ति है।

मुण्डकोपनिषद् का कथन मुक्ति बारे

मुण्डकोपनिषद् ने कहा :—

भिद्यते हृदय ग्रन्थिः छिद्यन्ते सर्व संशयाः।
क्षीयन्ते चास्य कर्मणि तस्मिन् दृष्टे परावरे ॥

अर्थात् मिथ्या ज्ञान दूर हुआ, प्रवृति और दोष का नाश हुआ। बस आध्यात्मिक जगत् खुल गया। अब कोई संशय शेष नहीं अतः स्थूल शरीर के ग्रहण करने की कोई आवश्यकता नहीं रही बस यही मुक्ति है।

मुक्ति महर्षि दयानन्द की दृष्टि में

महर्षि दयानन्द ने सत्यार्थ प्रकाश के नवमें समुल्लास में मुक्ति क्या है ? प्रश्नोत्तर के रूप में बताते हुए कहा कि मुञ्चन्ति पृथग्भवन्ति जना यस्यां सा मुक्ति'। दुःखों से छूट जाना ही मुक्ति है। पुनः प्रश्न का उत्तर देते हुए कहते हैं कि मुक्ति प्राप्त व्यक्ति, सुखों को प्राप्त होते और ब्रह्म में रहते हैं।

मुक्ति न्यायदर्शन की दृष्टि से

'तदत्यन्त विमोक्षोऽपवर्गः।'
दुःखों के अत्यन्ताभाव का नाम अपवर्ग यानी मुक्ति है।

कठोपनिषद् के अनुसार मुक्ति

यदा पञ्चावतिष्ठन्ते ज्ञानानि मनसा सह ।
बुद्धिश्च न विचेष्ठते तमाहुः परमां गतिम् ।।

जब शुद्ध मन युक्त पाँचों ज्ञानेन्द्रियाँ जीव के साथ रहती हैं और बुद्धि का निश्चय स्थिर होता है तो उसको परम गति अर्थात् मोक्ष कहते हैं। शतपथ ब्राह्मण में लिखा है कि शृण्वन् श्रोत्रं भवति स्पर्शन त्वग् भवति पश्चयन् चक्षर्भवति इत्यादि। मुक्त जीव स्वेच्छाचारी होकर सर्वत्र विचरता है उसके लिये कहीं कोई रुकावट नहीं। आनन्दपूर्वक स्वतंत्र विचरता है। सुनना चाहे तो सुन सकता है। छूना चाहे तो छू सकता है। देखना चाहे तो देख सकता है आदि-आदि। महर्षि ने यह बात कैसे कह दी ? इसका आधार महर्षि का युक्तियुक्त चिन्तन ही हो सकता है। मुक्ति में सूक्ष्म शरीर भी जीव के साथ रहता है सूक्ष्म शरीर के दो भाग हैं एक है भौतिक, जो सूक्ष्म भूतों के अंशों से बना है और दूसरा है स्वाभाविक, जो जीव के गुण रूप है। यह दूसरा भाग अभौतिक है, अतः यह भाग मुक्ति में भी जीव के साथ रहता है।

भिन्न-भिन्न ऋषियों के मुक्ति के बारे में दृष्टिकोण उपस्थित करने का एकमात्र करण यह है कि यह जाना जा सके कि सिवाये शब्दों की विभिन्नता के और कोई विशेष अन्तर नहीं हैं। भाव सबका एक जैसा ही है।

यह एक कठोर सत्य है कि बृद्धावस्था में रहते हुये मुक्ति की विस्तृत कल्पना करना अत्यन्त कठिन है। हम नित्य सुषुप्ति अवस्था देखते हैं परन्तु ठीक से उसका भी जागृत अवस्था में वर्णन नहीं कर पाते तो मुक्ति की कल्पना कैसे कर सकते हैं ? अमावस्या की अन्धेरी रात में बैठा मनुष्य जिसने अभी सूर्य के दर्शन नहीं किये, दोपहर के समय के सूर्य की चमक की कल्पना कैसे कर सकता है ? इसीलिये हमारे ऋषि मुनियों ने इतने सारे विवेचन के पश्चात् यदि यह कह दिया कि यह वह पद है जहाँ वाणी बन्द हो जाती है और मन कल्पना करना छोड़ देता है तो ठीक ही कहा था।

न शक्यते वर्णयितुं गिरस्तदा ।
स्वयं तदन्तःकरणेन गृह्यते ।।

एक महत्वपूर्ण शंका

अब यहाँ एक महत्वपूर्ण प्रश्न और उत्पन्न होता है कि क्या मुक्ति अवस्था अचल (Static) है या चल (Dynamic) है अर्थात् इसमें जीव के अपने लिए भी कुछ करना रहता है या यहीं ठहर जाना होता है ? जीव के लक्षण पहले कहे जा चुके हैं पुनः कहें तो यह हैं ज्ञातृत्व, भोक्तृत्व और कर्तृत्व। मुक्तावस्था में भोक्तृत्व तो नहीं रहा परन्तु ज्ञातृत्व और कर्तृत्व यानी चलत्व तो छूट नहीं सकते। यह कैसे सम्भव माना जाय कि मुक्तावस्था में आत्मा अपने स्वाभाविक गुणों को छोड़ बैठेगा। अतः बड़ी स्पष्ट बात है कि यह जीव स्वयं ही चलत्व गुण वाला नहीं, बल्कि अपने संसर्क में आने वाली जड़ वस्तुओं को भी चलत्व उधार दे देता है। शरीर का कोई अंग कट जाता है वह जड़ हो जाता है। परन्तु जब तक शरीर से सम्बन्धित था वह चेतन रहा। रेल का इंजन जड़ है परन्तु ज्यों ही ड्राईवर के हाथ में आता है चिंघाड़ता हुआ चेतन की भांति काम करने लग जाता है।

जब जीव स्वभावतः चल है तो मुक्ति अवस्था में उसमें अचलत्व कैसे आ सकता है ? स्वाभाविक गुण कभी बदलता नहीं। अग्नि तभी तक अग्नि है जब तक वह उष्ण है। यदि उष्णता न रहे तो उसे अग्नि कौन कहेगा ? दूसरे यदि मुक्ति अवस्था को अचल मान लिया जावे तो यह विकसित अवस्था कैसे कही जा सकती है ? विकसित यानि विकासशील और विकासशील का अर्थ ही चल है, अचल नहीं हो सकता।

यह सत्य है कि मुक्ति अवस्था के बारे में मनुष्य अधिक मालूम नहीं कर सकता। सूर्य का प्रकाश हम तक आता है। चाहें तो हम इन किरणों का प्रयोगशाला में परीक्षण कर सकते हैं परन्तु किन किरणों का ? जो करोड़ों मील की यात्रा करके थक कर चूर होकर हम तक पहुँचती हैं, केवल उन्हीं का ही। ऐसा कोई साधन हमारे पास नहीं जिससे यह ज्ञात हो सके कि उन किरणों का क्या है जो सूर्य से फूटते समय की हैं। ठीक यही दशा मुक्ति की है।

सुषुप्ति अवस्था से सादृश्य

सांख्य दर्शन के ऋषि ने मुक्ति की अवस्था को स्पष्ट करने के लिए 'सादृश्य' शब्द का सहारा लिया है ताकि कुछ तो मुक्ति का आभास दिया जा सके। वह एक सूत्र में लिखते हैं 'समाधि सुषुप्ति मोक्षेषु ब्रह्मरूपता'। अर्थात् समाधि सुषुप्ति और मुक्ति तीनों अवस्थाएँ एक सी हैं। उनमें

जीवको ब्रह्मरूपता प्राप्त हो जाती है। यानी दुःखों से छुटकारा पाकर आनन्द मिलने लगता है। परन्तु यह तीनों अवस्थायें एक नहीं, एक सी हैं। बाहर सूर्य निकला हो तो प्रकाश कमरे के अन्दर भी आ जाता है, परन्तु उतने मात्र से सूर्य के मुख्य प्रकाश का पूरा ज्ञान तो नहीं हो सकता।

मुक्ति से पुनः लौटना

महर्षि दयानन्द से पूर्व सभी सम्प्रदाय यही मानते थे कि मुक्ति के पश्चात् जीव शरीर धारण नहीं करता। परन्तु महर्षि दयानन्द ने सत्यार्थ प्रकाश में इस मत का खण्डन किया है और सिद्ध कर दिया है कि जीव मुक्ति से लौटता है। वैदिक काल के लोग भी जीव का मुक्ति से लौटना या पुनरावर्तन का सिद्धान्त मानते थे।

पुनरावर्तन को न मानने वालों की युक्तियाँ तथा खण्डन

कुछ लोग वह हैं जो मानते हैं कि जीव के अस्तित्व का नाश ही मुक्ति है। उनके मत में जैसे दीपक बुझने पर दीपक की लौ का अस्तित्व नष्ट हो जाता है।

विचारणीय है कि जब जीव का अस्तित्व ही न रहा हो तो अचलत्व का प्रश्न ही कहाँ रहा और लौटने की बात भी दीपक की लौ की भांति ही बुझ गई। फिर तो जीव अमर भी न रहा और मुमुक्षुत्व तो अमर होने के लिये ही है। यह बात तो जीव की प्रवृत्ति के भी सर्वथा विरुद्ध हो गई। जीव नित्य है, अमर है। अतः उसका सदा के लिए बुझ जाना कैसा ?

कुछ लोगों का मत है कि जीव नष्ट तो नहीं होता ब्रह्म में लय हो जाता है। परन्तु ब्रह्म में लय होने का अर्थ क्या है ? यह अपने में एक और पहेली है। अपने कथन की पुष्टि में वह लोग मुण्डकोपनिषद् का यह वचन कहते हैं :—

यथा नद्यः स्यन्दमानाः समुद्रेऽस्तं गच्छन्ति नामरूपे विहाय।
तथा विद्वान् नामरूपाद् विमुक्तः परात्परं पुरुषं उपैति दिव्यम् ॥

अर्थात् जैसे नदियाँ समुद्र में गिरकर अपना नाम और रूप छोड़ देती है उसी प्रकार विद्वान् अपना नाम और रूप छोड़कर ईश्वर को प्राप्त हो जाता है।

जरा विचार कीजिए कि इसमें केवल नाम और रूप से मुक्त होने की बात कही है। लय होने की बात कहीं नहीं कही। उपनिषद् ने यह बिल्कुल नहीं कहा कि जीवन का मुक्ति में अस्तित्व मिट जाता है। उपनिषद् का तात्पर्य तो यह है कि विद्वान् पुरुष मुक्त होकर नाम और रूप के पचड़े से अलग हो जाता है। यदि लय को मान ही लिया जावे तो ऐसा लय भी अस्तित्व को खो बैठना ही है। अर्थात् नाश के समान ही है क्योंकि ब्रह्म तो जैसा पहले था वैसे का वैसा ही फिर भी रहा। फिर दूसरी बात यह है कि यदि जीव मुक्ति में लय ही हो जाता है तो मुक्ति का सुख कौन भोगेगा ?

पुनरावर्तन

यदि जीव का अस्तित्व रहता है और मुक्ति एक अवस्था विशेष का नाम है तो जिज्ञासा के नाते जानना और भी आवश्यक हो जाता है कि मुक्ति से जीव लौटता भी है या नहीं ?

जो लोग लौटना नहीं मानते वे निम्न प्रमाण देते हैं :—

१. अनावृत्तिः शब्दादनावृत्ति शब्दात् (वेदान्त)
   अर्थात् व्यास जी कहते हैं कि जीव के न लौटने में श्रुति का प्रमाण है।

२. न मुक्तस्य पुर्नबन्ध योगोऽपि अनावृत्ति श्रुतेः (सांख्य)
   अर्थात् श्रुति का प्रमाण है कि मुक्त जीव की फिर आवृत्ति नहीं होती।

३. स तु तत् पदमाप्नोति यस्माद् भूयो न जायते (कठ)
   वह विज्ञान की प्राप्ति करके उस परम पद को पा लेता है जहां से फिर लौट कर नहीं आता।

४. स खल्वेषां वर्तयन् भावादायुषं ब्रह्मलोकं अभिसम्पद्यते न च पुनरावर्तते न च पुनरावर्तते (छान्दोग्य)
   अर्थात् मुक्त आत्मा आयु पर्यन्त ब्रह्म लोक में रहता है और फिर लौटकर नहीं आता।

परन्तु लौटकर आने के सिद्धान्त को जो मानते हैं उनका कहना है कि लौटने का यह कथन केवल नियत काल से संबंध रखता है अर्थात् कुछ समय निश्चित् है। उस समय तक मुक्ति से जीव नहीं लौटता। उसके पश्चात् लौट आता है। महर्षि दयानन्द सरस्वती ने इस बात की

पुष्टि में छान्दोग्य उपनिषद् का अंतिम वाक्य दिया है—
'यावदायुषं ब्रह्मलोकम्'

अर्थात् ब्रह्मलोक यानी मुक्ति की जो अवधि है (यावद् आयुषम्) उस समय तक नहीं लौटता। वह ब्रह्मलोक (मुक्ति) की एक अवधि मानते हैं और न च पुनरावर्तते इस पद की संगति 'यावद आयुषं' से मिलाते हैं। उनका कहना है कि आयुषं (जीवन) शब्द से अवधि का ही बोध होना चाहिए। उसके लिए आयु शब्द का प्रयोग नहीं दिया जाता। महर्षि ने पुनरावृत्ति की पुष्टि में मुण्डकोपनिषद् का भी एक वाक्य दिया है—

'ते ब्रह्मलोके ह प्रान्तकाले परामृतात् परिमुच्यन्ते सर्वे ॥'

अर्थात् वे मुक्त जीव ब्रह्मलोक में परांत काल तक रह कर फिर परिमुच्यन्ते लौटकर आते हैं और यह परान्त काल भी उतना ही सिद्ध शब्द है क्योंकि सृष्टि की आयु की गणना में परान्तकाल पारिभाषिक (TECHNICAL) शब्द है नित्य का बोधक नहीं।

एक और विशेष बात यहाँ विचारणीय है कि वे लोग जो मुक्ति से पुनरावर्तन नहीं भी मानते। वे भी स्वर्ग से लौटना अवश्य मानते हैं। स्वर्ग से उनकी मुराद क्या है यह भी जानना दिलचस्पी से खाली न होगा।

स्वर्ग क्या है ?

इसके बारे में ठीक कहना बहुत कठिन है। क्योंकि स्वर्ग शब्द भिन्न-भिन्न अर्थों में प्रयुक्त हुआ है। कहीं सीधे अर्थों में तो, कहीं अलंकारिक रूप में। भाषा विज्ञान के पण्डित जानते हैं कि कहीं-कहीं अलंकारिक अर्थों का अलंकारिक स्वरूप कभी-कभी लुप्त हो जाता है और इस प्रकार अर्थों में अनेक परिवर्तन हो जाते हैं। हमारे विचार में स्वर्ग शब्द का भी यही हाल है।

स्वर्ग किसी स्थान का नाम है या योनी विशेष का अथवा अवस्था विशेष का ? इसका विवेचन करना बहुत आवश्यक है। यदि स्वर्ग स्थान विशेष का नाम है तो प्रश्न ही नहीं उठता कि वहाँ से जीव लौटता है या नहीं। संसार में सभी स्थान स्वर्ग हो सकते हैं और कौन सा स्थान ऐसा है जहाँ जीव सुखी नहीं होता। यदि किसी सुरम्य स्थान का नाम स्वर्ग

है जैसा कि किसी कवि ने कश्मीर के बारे में कहा है—
'गर फरदौस बररूये जमीं अस्त हमीं अस्तो हमीं अस्तो हमीं अस्त ।'

यानी यदि स्वर्ग जमीन पर ही है तो वह यहीं है, यहीं है, यहीं है। और यदि किसी राज प्रासाद आदि का नाम है तो इनका मुक्ति या पुनरावर्तन से कोई संबंध नहीं हो सकता।

यदि स्वर्ग योनी विशेष का नाम है तो यह उत्सुकता स्वाभाविक ही होगी कि वह योनी मनुष्य योनी से ऊँची होगी या नीची या मनुष्य योनी के ही अंतर्गत राजा (आज के युग में शीर्षस्थ राजनेता) आदि की योनी है जहाँ सुख अधिक हों। दूसरी बात यह योनी चाहे ऊँची हो चाहे नीची, इसकी गणना पुनर्जन्म संबंधी योनियों के अंतर्गत तो हो ही जावेगी और फिर जिस प्रकार अन्य योनियों में सिलसिला है उसी प्रकार स्वर्ग की योनी में भी होगा।

यदि स्वर्ग अवस्था विशेष का नाम है तो यह बताना चाहिए कि जाग्रत, स्वप्न, सुषुप्ति, समाधि और मुक्ति से इतर कौन सी अवस्था है ?

हमारा विश्वास है कि जहाँ स्वर्ग का लौकिक अर्थ में वर्णन नहीं आया वहाँ इसका तात्पर्य मुक्ति से ही है। इसलिए लौटने का सिद्धांत प्रचलित रहा होगा। पीछे बौद्धमत तथा अद्वैतवाद की दार्शनिक उलझनों में पड़कर मुक्ति और स्वर्ग के भिन्न-भिन्न अर्थ हो गये होंगे। इस धारणा की पुष्टि में छान्दोग्य उपनिषद् का निम्न श्लोक उद्धृत किया जा सकता है।

'अमुष्य लोकस्य का गतिरिति न स्वर्गलोकं अतिनयेत् इति होवाच चैकितान'।

चैकितान दालभ्य से उसके एक साथी मित्र शिलक शालवय ने पूछा कि उस लोक (परलोक) की क्या गति है अर्थात् परलोक के पीछे क्या है तो उसने उत्तर दिया 'न स्वर्गलोकं अतिनयेत' अर्थात् स्वर्गलोक के आगे मत पूछो। यानी वहाँ जीव की अवस्था के दो भाग किये गये हैं। एक यह लोक (आवागमन का चक्र वाला) और दूसरा परलोक यानी मोक्ष। इसके आगे कोई अवस्था ही नहीं।

शिलक शालवय इस उत्तर से संतुष्ट नहीं हुए। वह अपने साथी मित्र को और आगे ले जाना चाहते थे। वह फिर बोले इतना ही उत्तर दोगे तो तुम्हारा सिर नीचा हो जायेगा। इस पर चैकितान शालवय से

पूछता है तो फिर तुम्हीं बताओ अमुष्य लोकस्य का गति ? इस पर शालक्य ने उत्तर दिया कि अयं लोकः अर्थात् यह लोक। तात्पर्य यह कि मोक्ष अवस्था या परलोक का परमपद जीव की वह अवस्था नहीं कि वह वहाँ ही ठहरा रहे और आगे के लिए निश्चल हो जाये और फिर लौटे नहीं। परलोक (मोक्ष) के बाद अयं लोकः का अर्थ स्पष्टतः मुक्ति से लौटना ही है।

इस लोक के पीछे परलोक और परलोक के पीछे यह लोक आते ही रहते हैं।

यजुर्वेद में एक मंत्र आता है जिसे इसी बात की पुष्टि में उद्धृत किया जा सकता है। मंत्र है—

मृत्युंजय महामंत्र
ओ३म् त्रयम्बकं यजामहे सुगन्धिं पुष्टिवर्धनम्।
उर्वारुक्मिव बन्धनात् मृत्योर्मुक्षीयमामृतात्॥

त्रयम्बकं (त्रयानां लोकनां अम्बः पितः इति त्रयम्बकः) जो तीनों लोकों का पिता है उससे प्रार्थना की गई है कि हे आनंदप्रद और बल के दाता! तू मुझे मृत्यु के बन्धन से इस प्रकार छुड़ा जैसे पका हुआ फल (मतीरा) अपनी डंठल से छूटकर बिना कष्ट के गिर पड़ता है परन्तु मुझे अमृतपद से दूर न करना। पुनरावर्तन सिद्धांत वालों का कहना है कि अमृत शब्द मुक्ति का बोधक है और यदि मुक्ति से लौटना सम्भव न होता तो ऐसी प्रार्थना की ही क्यों जाती ?

पुनरावर्तन की युक्ति द्वारा सिद्धि

चलिये शब्द प्रमाण की बात छोड़कर थोड़ा युक्ति से भी काम लिया जावे। आत्मा के स्वभाविक गुण जैसा कि पहले कह आये हैं चरत्व (चलत्व) है जिसे योगदर्शन ने प्रयत्न कहा है। यदि मुक्ति अनन्त विश्राम की अवस्था ही है तो उसके स्वाभाविक गुण जो कभी गुणी से जुदा नहीं होते चलत्व का क्या होगा ? जो जीव जड़ पदार्थों को भी चलत्व देता रहा। वह चलत्व के परमपद, विकास की चरम सीमा पर पहुँचकर स्वयं नष्ट हो जावे युक्तियुक्त नहीं लगता और जो लोग यह कहते हैं कि मुक्ति में जीव आनन्द पाता है वह उसे छोड़कर क्यों आवे, वह लोग जीव को केवल भोक्ता मानकर बैठ जाते हैं : उसके कर्तृत्व गुण को भूल जाते हैं। पर ब्रह्म के सम्पर्क से तो कर्तृत्व गुण का भी विकास होना चाहिए था। पहले वह स्वार्थवश काम करता था। जब

स्वार्थ कम हुआ तो मुक्ति हुई। अब उसे पूर्ण निःस्वार्थभाव से कर्म करना चाहिये जैसे ब्रह्म करता है। केवल भोग शेष रह जाना (मुक्ति में) जीव की उन्नति नहीं अवनति है।

कुछ पाठक आपत्ति कर सकते हैं कि भोग नाम इन्द्रियों से प्राप्त होने वाले सुख का है। परमानन्द का भोग भोग नहीं। परन्तु यहाँ भोग के उपकरण और भोग में अन्तर है। इन्द्रिय ग्राह्य हो तो क्या अथवा अनेन्द्रिय ग्राह्य हो तो क्या ? भोक्ता तो दोनों अवस्थाओं में जीव ही होगा।

जिसका आरम्भ उसका अंत भी निश्चित

यहाँ यह भी विचारणीय है कि जैसा हमने माना मुक्ति एक अवस्था विशेष का नाम है तो जिस अवस्था का आरम्भ हुआ उसका अन्त भी अवश्यंभावी है। सुषुप्ति का आरम्भ और अन्त दोनों ही हैं। सुषुप्ति में भी आनन्द की छाया रहती है। परन्तु कोई भी मनुष्य मात्रा से अधिक सो नहीं सकता। जीव का कर्तृत्व गुण जो थोड़े समय के लिए तिरोहित सा हो गया था जिससे आविर्भूत होकर तथा विश्राम के कारण नई शक्ति प्राप्त करके अपने कर्तव्य में पुनः जुट जाता है। उसी प्रकार मुक्ति अवस्था में जीव की शक्तियाँ और ताजा हो जाती हैं। जिसका निःस्वार्थभाव से दूसरों के लिए सर्वथा प्रयोग होना चाहिए। जैसे सुषुप्ति एक अवस्था है उसका अन्त है, वैसे ही मोक्ष भी एक अवस्था है। इसका भी एक अन्त होना चाहिए। केवल प्रश्न अवधि का शेष रह जाता है।

मुक्ति की अवधि

अवधि के बारे में महर्षि दयानन्द का मत है कि ३६००० बार उत्पत्ति और प्रलय का जितना समय होता है। इतने समय पर्यन्त जीव मुक्ति में रहता है।

इस कड़ी का अंतिम प्रश्न

पीछे कह आये हैं कि मुक्ति में जीव स्वेच्छाचारी हो जाता है। ऐसे में जीव मुक्ति से लौटने ही क्यों लगा ? परमानन्द को छोड़कर बंधन में आना क्यों स्वीकार करेगा ? ऋषि उत्तर देते हैं कि अपने स्वार्थ के लिये नहीं। दूसरों के उपकार के लिए। जिस प्रकार ईश्वर सृष्टि की रचना अपने लिए नहीं, बल्कि उन जीवों के लिए करता है जिनके

विकास की आवश्यकता होती है। उसी प्रकार जीव भी अपनी मुक्त अवस्था को छोड़कर अन्य जीवों के विकास में कहायता करने के लिए आते हैं। वे गुरु बनकर आते हैं, शिष्य बनकर नहीं।

वैदिक साहित्य में तीन प्रकार की योनियों का वर्णन आता है।

पहली भोग योनी है, पशु, पक्षी आदि।

दूसरी उभययोनी, जिसमें भोग भी है और कर्म भी है जैसे मनुष्य।

तीसरी योनी उन मुक्त आत्माओं की है जो मुक्ति से लौटते हैं। उनको सांसारिक भोग की आवश्यता नहीं। परन्तु वे उन जीवों के लिए कर्म करते हैं जो जगत् में जन्ममरण के बंधन में पड़े हैं। यह जीव वैदिक सिद्धान्त के अनुसार कल्प के आरम्भ में अमैथुनी सृष्टि में जन्म लेते हैं और अन्य जीवों को कुमार्ग से बचाकर संमार्ग पर चलाना उनका एकमात्र ध्येय होता है।

तो सारांश यह कि शरीर को छोड़ने के पश्चात् आत्मा के लिए दो ही मार्ग हैं। पहला तो यह कि वह आवागमन के चक्र में रहकर पुनः अपने ज्ञान और कर्म के अनुसार जन्म लेता रहे और दूसरा यह कि मोक्ष की प्राप्ति कर चिरानंद का भोग करे। यही वह रहस्य था जो नचिकेता यमाचार्य से जानना चाहता था।

अंतिम यात्रा शरीर की है न कि आत्मा की। आत्मा तो अनादि है, अनंत है। न इसका कभी जन्म ही हुआ और न ही कभी मृत्यु होगी। अतः न इसकी यात्रा का कहीं आरम्भ है और न अन्त.हो।

और अन्त में हमारा अनुरोध

आत्मा के बारे में थोड़ी बहुत जानकारी अवश्य प्राप्त हो गई होगी। ऐसा हमारा विश्वास है, पर इतना ही पर्याप्त नहीं। यह तो नारद ऋषि के मन्त्रवित् होने जैसी बात है। भवसागर से पार उतरने के लिए या फिर मानव जीवन की सफलता के लिए आत्मवित् होना अनिवार्य है और आत्मवित् होने के लिए है साधना। योगदर्शन में 'यम और नियमों का वर्णन आता है। नियम है–शौच, संतोष, तप, स्वाध्याय और ईश्वर विश्वास। इनका पालन अपने चरित्र निर्माण के लिए भी जरूरी है और अपने व्यक्तित्व में निखार लाने के लिए भी है।

परन्तु साधना के लिए 'यम' (अहिंसा, सत्य, अस्तेय, ब्रह्मचर्य और अपरिग्रह) पांच महाव्रत कहे गये हैं। इनकी जानकारी प्राप्त कर लेने के पश्चात् यह समझ बैठना कि अक्षरशः इनका पालन कर पाना आज के युग में किसी प्रकार भी व्यावहारिक नहीं—यह बहुत बड़ी भूल होगी। व्यावहारिकता का यह 'उपदेश' भौतिकवादियों की देन है। अध्यात्मवाद के यात्रियों के चिन्तन का आधार तो सदा ही वास्तविकता का रहा है। अतः निःशंक होकर इन व्रतों का पालन भले ही 'यथा संभव' शब्द की भावना के साथ शुरू कीजिये, आप थोड़े ही समय में स्थिति में स्पष्ट बदलाव पायेंगे और व्रतों में जैसे-जैसे स्थिरता आती जावेगी वैसे-वैसे आपका आगे-आगे का मार्ग स्वयमेव प्रशस्त होता चला जावेगा। यह भी आवश्यक नहीं कि आप सभी व्रतों का पालन एक साथ इकट्ठा शुरू करें। यूँ तो यह व्रत एक दूसरे से मिले-जुले से हैं एक का पालन करते दूसरे भी सिद्ध होने शुरू हो जाते हैं। शुरू में किसी एक का चुनाव आपकी इच्छा पर निर्भर करता है।

युधिष्ठर के जीवन का एक उदाहरण हमारे सामने है। गुरु आश्रम में पहला पाठ सत्यं वद, धर्मं चर ही उनके जीवन का एक मात्र लक्ष्य बन गया और इसी ने उन्हें धर्मपुत्र की पदवी पर ला बिठाया। क्योंकि धर्म के सभी लक्षण सत्य में ही ओतप्रोत हैं।

साधना की राह पर चलने वालों के लिए आयु का भी कोई महत्व नहीं। जब भी और जहाँ से भी संभव हो सके इस राह पर चल दें, यह मत सोचें कि जीवन के अंतिम प्रहर में क्या कर पायेंगे? चिन्ता न करें, जितना भी हो पायेगा, उतना ही सही। अर्जुन ने भी भगवान् श्री कृष्ण से यही शंका प्रगट की थी। श्री कृष्ण ने उत्तर दिया था, इस जन्म में जितना भी पा लोगे अगले जन्म में उससे आगे शुरू करोगे। इस जन्म का थोड़ा भी किया व्यर्थ नहीं जायेगा।

इससे भी बढ़कर महत्वपूर्ण बात वृत्तियों के शुद्ध और पवित्र होने से इसका प्रभाव आगामी जन्म पर होगा। क्योंकि आप पीछे पढ़ आये हैं कि यह वृत्तियाँ अगले जन्म का एक मात्र कारण है। ज्ञान और कर्म इन वृत्तियों (अभ्यासांश) को बनाते हैं विचार चाहे कितने भी श्रेष्ठ क्यों न हों, कितने भी उत्तम क्यों न हों, व्यवहार में आकर ही कर्म बनते हैं और कर्म ही एक मात्र मानव जीवन का साधन है चरम लक्ष्य तक पहुँचने का और इन वृत्तियों के सुधार का भी।

हमारा अनुरोध है कि एक बार उत्साह बटोरिए, अपने को बौना मत समझिये और जुट जाइये। विश्वास कीजिए कि भगवान की आप पर असीम कृपा है। एक तो मानव जीवन का पाना ही आसान नहीं, दूसरे आप उस मार्ग के पथिक बन गये हैं जो निरन्तर प्रभुमिलन की ओर जाता है। साधना का धन जिसके पास है, वह राजा हो या रंक, सच मानो बहुत धनवान है। कंगाल तो वह है जो मनुष्य जीवन पाकर भी इस धन से वंचित है।

यदि मेरा यह संदेश किसी पवित्र हृदय को छू पाया और वह इस राह पर चल निकला तो मैं अपना यह प्रयास सफल मानूंगा।

ओ३म् शम्

❀❀

डा. देवव्रत महाजन

संक्षिप्त परिचय

नैनांकोट तहसील शकरगढ़ (पाकिस्तान) में पूज्य पिता स्व. महाशय राम दित्त जी महाजन एवं पूज्या माता श्रीमती दुर्गा देवी जी के घर 15 जुलाई 1916 को जन्म हुआ। प्राथमिक शिक्षा स्थानीय स्कूल में तथा स्नात्तकान्त लाहौर में।

शिक्षा समाप्ति के पश्चात् दन्त-चिकित्सक के नाते अमृतसर में 1940 में व्यवसाय का शुभारम्भ। स्वध्याय तथा समाज सेवा व्रत पिताश्री की सतत् प्रेरणाओं तथा आदर्शों के परिणाम स्वरूप पाया। जनवरी 1993 में अमृतसर से स्थानान्तरित कर सी. 257 शास्त्री नगर (C-257, Shastri Nagar, Ghaziabad) गजियाबाद में निवास व्यवसाय तथा सेवाव्रत यथा पूर्व।